मोक्षमार्ग की पूर्णता

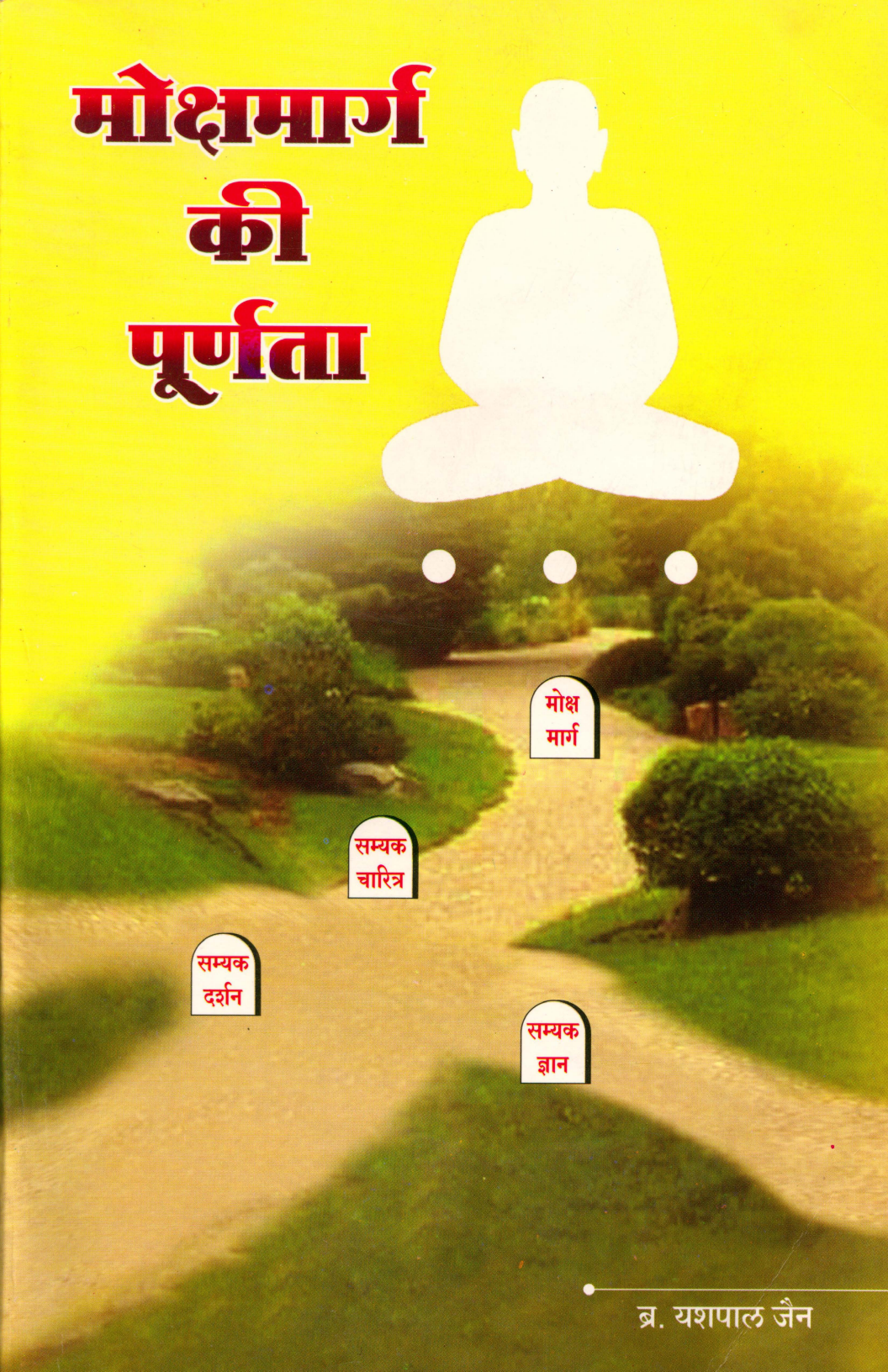

ब्र. यशपाल जैन

मोक्षमार्ग की पूर्णता

रत्नत्रय की आगमोक्त परिभाषाएँ आदि एवं
आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी के अनमोल वचन सहित

लेखक :

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए., जयपुर

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

फोन : (0141) 2705581, 2707458

प्रथम संस्करण : 2 हजार
16 सितम्बर, 2007
(दशलक्षण पर्व के पावन अवसर पर)

मूल्य : बारह रुपए

टाइप सैटिंग :
त्रिमूर्ति कंप्यूटर्स
ए-4 बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा ब्र. यशपाल जैन की नवीनतम कृति 'मोक्षमार्ग की पूर्णता' का प्रकाशन करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है।

अध्यात्मप्रेमी मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग की चर्चा अत्यन्त प्रिय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग की उत्पत्ति से पूर्णता किस प्रकार होती है – यह सभी की जिज्ञासा का विषय है। इसी विषय को इस पुस्तक के **प्रथम खण्ड** में सरलता से समझाने का प्रयास किया है। **द्वितीय खण्ड** में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के सम्बन्ध में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के विशिष्ट उद्गार संकलित हैं। तथा **तृतीय खण्ड** में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की परिभाषाएँ आदि दिये हैं।

आध्यात्मिक तथ्यों को करणानुयोग के माध्यम से प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त ब्र. यशपाल जैन की अध्यापकीय शैली अत्यन्त सरल व सुबोध है – यह उनकी 'जिनधर्म प्रवेशिका' व 'गुणस्थान विवेचन' नामक पूर्व प्रकाशित पुस्तकों से भी स्पष्ट होता है। इस कृति के लिए हम उनके आभारी हैं।

इस कृति में विषय-विभाजन कर मुख्य शीर्षक व उपशीर्षक आदि देने में पण्डित शान्तिकुमार पाटील ने सहयोग दिया है। भाषा संशोधन का कार्य पण्डित जितेन्द्र राठी ने तथा रत्नत्रय की विभिन्न परिभाषाओं का आगम आधार खोजने का कष्ट साध्य कार्य आचार्य कक्षा के छात्र सौरभ जैन गढ़ाकोटा ने किया है। टाइपसैटिंग कैलाशचन्द्र शर्मा ने बड़े ही मनोयोगपूर्वक किया है। मुद्रण-व्यवस्था में प्रकाशन विभाग के प्रबन्धक श्री अखिल बंसल का विशेष सहयोग रहा है। दानदाताओं के कारण ही कीमत कम करने का कार्य हुआ है। अतः हम इन सभी महानुभावों के हार्दिक आभारी हैं।

ब्र. हेमचन्दजी 'हेम' देवलाली एवं पण्डित राजमलजी भोपाल ने भी इसे समग्र पढ़कर आवश्यक सुझाव दिये हैं, अतः हम उनके भी आभारी हैं।

आशा है पाठक इस कृति से लाभान्वित होंगे व अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करेंगे।

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, महामंत्री,
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

मनोगत

'मोक्षमार्ग की पूर्णता' नामक इस कृति की पूर्णता से मुझे सात्विक आनंद हो रहा है। श्री टोडरमल जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की दैनिक शास्त्रसभा में आचार्य अमृतचन्द्र कृत "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" ग्रन्थ के श्लोक क्रमांक २१२, २१३ एवं २१४ पर प्रवचन करने का जब मुझे अवसर प्राप्त हुआ, तब मैंने मूल श्लोक, अर्थ एवं इसकी हिन्दी टीका का सूक्ष्मता से अध्ययन किया। इससे मोक्षमार्ग की उत्पत्ति व पूर्णता सम्बन्धी विशिष्ट विषय पर मेरा ध्यान आकर्षित हुआ।

सभी स्वाध्यायी यह तो जानते ही हैं कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र गुण के सम्यक् परिणमन की उत्पत्ति का स्थान चुतर्थ गुणस्थान होने पर भी इनकी पूर्णता का स्थान अलग-अलग ही है। जैसे श्रद्धा गुण का सम्यक् परिणमन व पूर्णता दोनों एक साथ चौथे गुणस्थान में होते हैं। ज्ञान गुण का सम्यक्पना चौथे गुणस्थान में उत्पन्न होता है, लेकिन पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है। इसी तरह चारित्र गुण का सम्यक्परिणमन भी यद्यपि चौथे गुणस्थान में होता है, तथापि पूर्णता सिद्धदशा के प्रथम समय में होती है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति युगपत् होने पर भी ज्ञान व चारित्र की पूर्णता अक्रम तथा क्रमशः ही होती है। यह विषय स्पष्ट समझ में आने पर मुझे विशेष आनन्द हुआ। सभी साधर्मियों को भी यह विषय समझ में आवें – इस उद्देश्य से इसे लिखकर प्रकाशित करने की भावना हुई।

इस कृति में तीन खण्ड हैं। **प्रथम खण्ड** में 'मोक्षमार्ग की पूर्णता' – इस विषय को आगम के आधार से अपनी भाषा में स्पष्ट करने का मैंने प्रयास किया है। इस कृति में जिस 'सम्यग्दर्शन' किताब के उद्धरण दिये हैं, वह किताब श्री दि. जैन कुन्दकुन्द कहान ग्रंथमाला आग्रा से प्रकाशित है। सूज्ञ पाठकों से निवेदन है कि इस सम्बन्ध में कोई विशेष सुझाव हो तो मुझे अवश्य देवें। **द्वितीय खण्ड** में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के उद्गार दिये हैं – जो 'ज्ञानगोष्ठी' नामक पुस्तक से संकलित हैं। **तृतीय खण्ड** में रत्नत्रय की आगमोक्त परिभाषाएँ आदि दी हैं। सुलभता से कठिनता और इस नियम का अनुसरण करने के अभिप्राय से उपर्युक्त क्रम रखा है।

इस कृति को पूर्ण करने हेतु प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से जिन-जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ है – उन सभी का मैं हार्दिक आभारी हूँ।

– **ब्र. यशपाल जैन**, एम.ए.

मोक्षमार्ग की पूर्णता

मंगलाचरण

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

सर्वमंगलमांगल्यं, सर्वकल्याणकारकं।
प्रधानं सर्वधर्मानां, जैनं जयतु शासनम्॥

सदृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वराः विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति, भवपद्धतिः॥

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं, तेसिमधिगमो णाणं।
रागादीपरिहरणं, चरणं एसो दु मोक्खपहो॥

तच्चरुई सम्मत्तं, तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं।
चारित्तं परिहारो, पयंपियं जिणवरिंदेहिं॥

सम्मद्दंसणणाणं चरणं, मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ
प्रथम खण्ड		
१.	भूमिका	७-१०
	● द्रव्य का स्वरूप	११-१७
	● गुण का स्वरूप	१८-२०
	● पर्याय का स्वरूप	२१-२५
	● कर्ता-कर्म का स्वरूप	२६-३०
२.	सम्यक्त्व की पूर्णता उत्पत्ति के साथ	३१-५४
३.	सम्यग्ज्ञान की पूर्णता (अक्रम से)	५५-६८
४.	सम्यक्चारित्र की पूर्णता (क्रम से)	६९-१०३
	● चारित्र की पूर्णता के अज्ञान से आपत्तियाँ, उपसंहार एवं लाभ	१०४-१०९
द्वितीय खण्ड		
१.	**रत्नत्रय के सम्बन्ध में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के उद्‌गार**	
	● सम्यग्दर्शन	११०-१३७
	● सम्यग्ज्ञान	१३८-१४७
	● सम्यक्चारित्र	१४८-१५८
तृतीय खण्ड		
१.	**रत्नत्रय की आगमोक्त परिभाषाएँ आदि**	
	● सम्यग्दर्शन	१५९-१८६
	● सम्यग्ज्ञान	१८७-१९९
	● सम्यक्चारित्र	२००-२१३

प्रथम खण्ड

भूमिका

वीतरागी, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित जिनधर्म में विश्व व्यवस्था एवं वस्तु व्यवस्था का निरूपण – छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थों के रूप में किया गया है। इनमें से छह द्रव्यों में जीव द्रव्य को प्रथम स्थान देकर इसकी प्रधानता सिद्ध की गयी है।

इसीप्रकार पाँच अस्तिकायों में जीवास्तिकाय, सात तत्त्वों में जीव तत्त्व तथा नौ पदार्थों में जीव पदार्थ को प्रथम स्थान दिया गया है। वास्तव में जीव के वर्णन बिना जिनवाणी का निरूपण ही अपूर्ण है।

प्रत्येक जीव द्रव्य में अनन्त गुण विद्यमान हैं, जिनमें श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र प्रमुख गुण हैं; क्योंकि **इन तीनों के विपरीत परिणमन के कारण ही जीव अनादि से चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करता हुआ अनंत दुःख भोग रहा है तथा इनके ही सम्यक् परिणमन से जीव को अल्पकाल में ही मुक्ति की प्राप्ति भी निश्चित होती है।**

इन तीन गुणों में भी जीव को अन्य अनन्त द्रव्यों से भिन्न अर्थात् स्वतंत्र करनेवाला ज्ञान गुण ही जीव का असाधारण लक्षण होने से प्रधान गुण है।

ज्ञान के द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप समझ में आने पर प्राथमिक अवस्था में श्रद्धा भी यथार्थ बनती है।[1] इसी ज्ञान के निर्मल परिणमनरूप सम्यग्ज्ञान की स्थिरता को अभेद विवक्षा से ध्यान कहते हैं[2] और यही सम्यक्चारित्र है।

इसप्रकार श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र – इन तीनों गुणों की निर्मल पर्यायें ही मोक्षमार्ग में प्रमुख हैं। इसीलिए आचार्य उमास्वामी ने इन तीनों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की एकता को ही मोक्षमार्ग अर्थात् मोक्षरूप

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ४, पृष्ठ ८०
२. योगसार प्राभृत श्लोक – ४७०

पूर्णसुख का उपाय/साधन बताया है।[१]

ज्ञान की महिमा से सभी सुपरिचित हैं। जीवन के लौकिक क्षेत्र में भी ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण है। घंटों शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूर को मिलनेवाली मजदूरी से मात्र कुछ ही घंटे बौद्धिक कार्य करनेवाले इंजीनियर अथवा डॉक्टर को आर्थिक लाभ बहुत अधिक होता है। मनुष्य जीवन में भी ज्ञान की अधिकता से मनुष्य को महान व ज्ञान की हीनता से हीन माना जाता है।

इसीप्रकार पारलौकिक क्षेत्र में भी ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

श्रद्धा सदैव ज्ञान का ही अनुसरण करती है, **प्राथमिक अवस्था में ज्ञान के माध्यम से ही श्रद्धा में सामान्यरूप से सम्यक्पना आता है तथा चारित्र अर्थात् आचरण के सम्यक्पने का कारण भी ज्ञान ही है;** इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र में ज्ञान को सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र के बीच में रखा है, ज्ञान मध्य दीपक है।

वास्तव में ज्ञान सदैव (जानन क्रियारूप) यथार्थ अर्थात् निर्मल ही रहता है, कभी भी मलिन नहीं होता; किन्तु **श्रद्धा और चारित्र ही मलिन-निर्मल होते हैं, इसीकारण मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को भी धवला में मंगल कहा है।**[२]

यदि इस ज्ञान के द्वारा जानी गई वस्तु में किंचित्मात्र भी संशय, विपर्यय या अनध्यवसायरूप या हीनाधिकरूप जानपना हो तो उसे भी मिथ्याज्ञान कहते हैं; तथापि जानपना है – सो ज्ञान का स्वाभाविक कार्य है – यही ज्ञान का निर्मलपना है।

अनादि से ही इस जीव का ज्ञान मोह-राग-द्वेषभावों के सन्मुख हुआ वर्त रहा है, उनमें ही अपनापन स्थापित किये हुए जान रहा है। जब कोई आत्मज्ञानी की देशना इसे मिल जाये तो इसका ज्ञान उपयोग अपने शक्तियों के पिण्डजीवत्वरूप पारिणामिक भाव के सन्मुख हो।

---

१. 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र-१

२. धवला पुस्तक १, पृष्ठ ३८, ३९

मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दृष्टि होने के लिए अथवा संसारमार्गी को मोक्षमार्गी होने के लिए ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई साधन ही नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार गाथा २०५ में लिखते हैं –

"णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहु वि ण लहंते।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं॥

अर्थ – ज्ञान गुण (आत्मानुभव) से रहित बहुत से लोग अनेक प्रकार के कर्म (क्रियाकाण्ड) करते हुए भी इस ज्ञानस्वरूप पद (आत्मा) को प्राप्त नहीं कर पाते; इसलिए हे भव्य ! यदि तुम कर्मों से सर्वथा मुक्ति चाहते हो तो इस नियत ज्ञान को ग्रहण करो।"

इसी विषय का समर्थन आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश 60 में भी किया है –

(मन्दाक्रान्ता)

"ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था।
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः॥
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः।
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावम्॥

अर्थ – गर्म पानी में अग्नि की उष्णता और पानी की शीतलता का भेद, ज्ञान से ही प्रगट होता है और नमक के स्वादभेद का निरसन (निराकरण, अस्वीकार, उपेक्षा) ज्ञान से ही होता है। (अर्थात् ज्ञान से ही व्यंजनगत नमक का सामान्य स्वाद उभर आता है और उसका स्वादविशेष निरस्त होता है।) इसीप्रकार निजरस से विकसित होती हुई नित्य चैतन्यधातु और क्रोधादि भावों का परस्पर भेद भी ज्ञान ही जानता है और क्रोधादिक के कर्तृत्व (कर्त्तापने के भाव) को भेदता हुआ ज्ञान ही प्रगट होता है।"

ज्ञान तथा यथार्थ श्रद्धान के सम्बन्ध में पण्डित टोडरमलजी का कथन भी अति महत्त्वपूर्ण है। इसलिए उसे हम आगे दे रहे हैं –

१. "यहाँ फिर प्रश्न है कि – ज्ञान होने पर श्रद्धान होता है, इसलिए पहले मिथ्याज्ञान कहो बाद में मिथ्यादर्शन कहो?

समाधान – है तो ऐसा ही, **जाने बिना श्रद्धान कैसे हो?** परन्तु मिथ्या और सम्यक् – ऐसी संज्ञा ज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन के निमित्त से होती है।

जैसे – मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि सुवर्णादि पदार्थों को जानते तो समान हैं, (परन्तु) वही जानना मिथ्यादृष्टि के मिथ्याज्ञान नाम पाता है और सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। इसी प्रकार सर्व मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन कारण जानना।

इसलिये जहाँ सामान्यतया ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण हो वहाँ तो ज्ञान कारणभूत है, उसे प्रथम कहना और श्रद्धान कार्यभूत है, उसे बाद में कहना। तथा जहाँ मिथ्या-सम्यक्, ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण हो, वहाँ श्रद्धान कारणभूत है; उसे पहले कहना और ज्ञान कार्यभूत है उसे बाद में कहना।''[१]

ज्ञान की महिमा को स्पष्ट करते हुए पण्डित दौलतरामजी भी छहढाला में लिखते हैं –

''ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारण॥''

इसप्रकार ज्ञान के द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप के निर्णयपूर्वक निजात्मा की प्रतीति सम्यग्दर्शन, निजात्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान व निजात्मलीनता ही सम्यक्चारित्र है।

अतः श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र गुणों का स्वरूप व कार्य बताकर **इनकी समीचीनता का उत्पाद, विकास एवं पूर्णता कहाँ, कब व कैसी होती है – यह स्पष्ट करना ही इस कृति का मुख्य उद्देश्य है।**

उक्त विषय को समझने के लिए जिनेन्द्र प्रणीत वस्तु व्यवस्था को यथार्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है और वस्तु-व्यवस्था को समझने के लिए द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप एवं इनके परस्पर सहज सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है। अतः सर्वप्रथम इनका ही यथासंभव विस्तार से स्पष्टीकरण करते हैं।[२]

१.मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-८७ २. समयसार गाथा -१८६

द्रव्य का स्वरूप

द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। इस विश्व में जाति अपेक्षा छह द्रव्य पाये जाते हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल। तथा संख्या अपेक्षा से जीव द्रव्य अनंत हैं, पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं, धर्म-अधर्म व आकाश द्रव्य एक-एक हैं तथा काल द्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं।

यह विश्व अनादि-अनंत है, प्रत्येक द्रव्य अनादि-अनंत है और प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण भी अनादि-अनंत ही है। **जो अनादि-अनन्त होता है, वह नियम से अकृत्रिम, स्वयंभू व सहज/स्वतःसिद्ध होता है।** उसका उत्पादक/कर्त्ता कोई भी नहीं होता। जिसका कोई उत्पादक नहीं होता, उसका कोई रक्षक, भक्षक या संहारक भी नहीं होता।

जो दर्शन, ईश्वर को जगत का कर्त्ता मानते हैं; वे प्रत्येक द्रव्य व उनके प्रत्येक गुण का कर्त्ता भी ईश्वर को ही मानते हैं। ऐसी मान्यता वाले लोग विश्व में जो भी नयी-नयी अवस्थाएँ (पर्यायें) होती हैं, उनका कर्त्ता भी ईश्वर को ही मानते हैं।

जिसप्रकार एक घड़े पर दूसरा घड़ा रखना हो; तब पहला घड़ा सीधा रखा हो तो उस पर दूसरा-तीसरा घड़ा भी सीधा ही रखा जायेगा तथा यदि पहला घड़ा उल्टा रखा हो तो आगे के सभी घड़े भी उल्टे ही रखे जायेंगे।

उसीप्रकार विश्व, द्रव्य-गुण-पर्याय – इनमें से किसी एक का भी कर्त्ता किसी अन्य को मान लिया जाय तो सभी का कर्त्ता अन्य को मानना अनिवार्य हो जायेगा, जो कि वस्तुव्यवस्था से सर्वथा विपरीत है।

द्रव्यार्थिकनय से जैनदर्शन में विश्व-द्रव्य-गुण सभी को सहज अर्थात् स्वयंभू स्वीकार किया गया है, तथा पर्यायार्थिकनय से एवं सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो प्रत्येक पर्याय भी सहज/स्वयंभू है तथा अपनी योग्यता से ही उत्पन्न होती है।

पर्याय की उत्पत्ति के काल में उस पर्याय की उत्पत्ति में अनुकूल अन्य द्रव्य की पर्याय को मात्र निमित्तरूप से स्वीकृत किया जाता है; किन्तु अज्ञजन अपने अज्ञानभाव से उस निमित्त को ही कर्त्ता मानते हैं।

इस कर्त्तापने की मान्यता का छूटना ही वास्तविक वस्तु व्यवस्था का स्वीकार है **तथा ऐसा जानना सम्यग्ज्ञान है और मानना सम्यग्दर्शन है।**

प्रत्येक द्रव्य, स्वभाव से शुद्ध ही है। जाति अपेक्षा छह द्रव्यों में भी धर्म, अधर्म, आकाश व काल – ये चार द्रव्य तो कभी विभावरूप/अशुद्धरूप परिणमते ही नहीं हैं।

मात्र जीव व पुद्गल – इन दो द्रव्यों में ही विभाव/अशुद्ध परिणमन होता है। इनके विभाव-परिणमन में भी मूल द्रव्यस्वभाव अशुद्ध नहीं होता है, वह तो सदैव शुद्ध ही रहता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में (पृष्ठ १९९) पर इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार आया है –

''एक तो द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना है, एक पर्याय अपेक्षा शुद्धपना है। वहाँ द्रव्य अपेक्षा तो परद्रव्य से भिन्नपना और अपने भावों से अभिन्नपना – उसका नाम शुद्धपना है। और पर्याय अपेक्षा औपाधिकभावों का अभाव होने का नाम शुद्धपना है। सो शुद्ध चिंतवन में द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना ग्रहण किया है। वही समयसार व्याख्या में कहा है :–

''एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते।'' (गाथा ६ की टीका)

इसका अर्थ यह है कि आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। सो यही

समस्त परद्रव्यों के भावों से भिन्नपने द्वारा सेवन किया गया; ऐसा कहा जाता है।

तथा वहीं ऐसा कहा है :–

''समस्तकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः।''

(गाथा ७३ की टीका)

अर्थ :– समस्त ही कर्त्ता, कर्म आदि कारकों के समूह की प्रक्रिया से पारंगत ऐसी निर्मल अनुभूति, जो अभेदज्ञान तन्मात्र है, उससे शुद्ध है। इसलिये ऐसा शुद्ध शब्द का अर्थ जानना।''

यदि द्रव्य का मूल स्वभाव ही अशुद्ध हो जाय तो पर्याय को शुद्ध करने का कोई उपाय ही शेष नहीं रहेगा।

२. प्रश्न – पर्याय के विभाव अर्थात् अशुद्धरूप परिणमने पर मूल द्रव्य भी विभावरूप/अशुद्धरूप हो गया – ऐसा मानने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर – बहुत बड़ी आपत्ति है। जो अनादि-अनन्त होता है, वह स्वभाव से शुद्ध ही होता है; परन्तु पर्यायदृष्टि से द्रव्य को अशुद्ध कहा तो जाता है, तथापि मूल स्वभाव अशुद्ध होता नहीं।

द्रव्य अनादि-अनन्त है, अतः वह स्वरूप से शुद्ध ही है। द्रव्य के शुद्धस्वभाव की स्वीकृति के कारण ही पर्याय को शुद्ध करने का प्रयास/पुरुषार्थ किया जाता है।

यदि द्रव्यार्थिकनय से भी द्रव्यस्वभाव को ही अशुद्ध मान लिया जाय तो पर्याय को शुद्ध करनेरूप मोक्ष का पुरुषार्थ ही नहीं रहता।

जैसे वैद्य या डॉक्टर, मानव शरीर को स्वभाव से निरोग मानते हैं और बीमारी को रोगाणुकृत तात्कालिक, क्षणिक व नष्ट होने योग्य विकार/विभाव मानते हैं और शरीर के निरोग स्वभाव की श्रद्धा के कारण ही औषधि आदि उपचारों से रोग को दूर करने का उपाय करते हैं।

वैसे जीव द्रव्य भी स्वभाव से शुद्ध ही है, अशुद्धता तो पर के लक्ष्य व निमित्त से पर्याय में उत्पन्न हुआ तात्कालिक क्षणिक व नष्ट होने योग्य विकारीभाव/विभाव हैं – ऐसे स्वरूप के श्रद्धान के कारण ही अर्थात् स्वभाव के लक्ष्य से विभाव को हेय मानकर विकार का विनाश कर पर्याय को शुद्ध करने का पुरुषार्थ किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा क्रमांक-१० में द्रव्य का लक्षण बताते हुए लिखा है –

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥

गाथार्थ – जो 'सत्' लक्षणवाला है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है अथवा गुण-पर्यायों का आश्रय है, उसे सर्वज्ञ देव द्रव्य कहते हैं।

इस जगत में एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो स्व-अस्तित्व से अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव से भिन्न हो।

द्रव्य का मुख्य धर्म द्रवता अर्थात् द्रवित होना-अन्वयशीलता है, इसकारण वह अपने ही गुण-पर्यायों में द्रवित होता है। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य स्व-अस्तित्व से अभिन्न है – 'ऐसे सत् को ही द्रव्य का लक्षण कहा है।'[१]

इसीप्रकार प्रवचनसार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, प्रवचनसार टीका, पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों में भी द्रव्य के स्वरूप की चर्चा स्पष्टरूप से की गई है – विशेष जिज्ञासु पाठक इन ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करें।

पण्डित दीपचंदजी कासलीवालकृत चिद्विलास में भी द्रव्य, गुण, पर्याय के विषय को लेकर विशेष विवरण प्रारंभिक ३० पृष्ठों में आया

१.पंचास्तिकाय गाथा-९। सद्द्रव्यलक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-५, सूत्र-२९

है; उसे अवश्य देखें। विस्तारभय से यहाँ उसे देने में हम असमर्थ हैं।

गुरुवर्य श्री गोपालदासजी बरैया ने जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में सामान्यजन को बोधगम्य ऐसा द्रव्य का लक्षण इसप्रकार दिया है – **गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं।**

यहाँ गुणों के समूह का तात्पर्य मात्र दो-पाँच गुण अथवा हजार-लाख-करोड़-अरब आदि संख्यात गुण तो हैं ही नहीं, असंख्यात गुण भी नहीं हैं; अपितु अनन्त गुणों का समूह है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण पाये जाते हैं।

इस परिभाषा में पर्यायों का समूह गौण है। तत्त्वार्थसूत्र में **'गुणपर्ययवत् द्रव्यम्'** ऐसा सूत्र आया है, अर्थात् गुण एवं पर्यायों के समूह को द्रव्य समझ लेना चाहिए।

३. प्रश्न – पुद्गलद्रव्य में तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि थोड़े से ही गुण पाये जाते हैं और आप अनंतगुण बता रहे हैं, हम किसे यथार्थ स्वीकार करें ?

उत्तर – भाई साहब ! आप तो मात्र कुछ विशेष गुणों का ही उल्लेख कर रहे हैं। जिनवाणी में भी पुद्गल का लक्षण बताते हुए सामान्यरूप से स्पर्शादि चार गुणों का ही संक्षेप में कथन किया है। वस्तुतः पुद्गल द्रव्य में स्पर्शादि विशेष गुण भी अनन्त हैं और अस्तित्वादि सामान्य गुण भी अनन्त ही हैं।

धर्मादि द्रव्यों की चर्चा में तो मात्र गतिहेतुत्वादि एक-एक विशेष गुणों का ही उल्लेख मिलता है, लेकिन वहाँ भी अनन्त विशेष गुण व अनन्त सामान्य गुण समझना चाहिए अर्थात् **अनन्त सामान्य गुण और अनन्त विशेष गुणों के समूह को ही द्रव्य कहते हैं** – ऐसा ही प्रत्येक द्रव्य का वास्तविक स्वरूप समझना चाहिए।

जीव द्रव्य में भी अनुजीवी गुण, प्रतिजीवी गुण, सामान्य गुण, विशेष गुण इसतरह गुणों के भेद-उपभेद सहित गुण अनंत हैं। पुद्गलद्रव्य में भी गुण अनंत हैं।

४. प्रश्न – जीव का मूल प्रयोजन क्या है?

उत्तर – जीव का मूल प्रयोजन मात्र सुख होवें और दुख न होवें, यह है।[१]

इस कारण इस कृति में जीव के जिन गुणों के विपरीत या विभावरूप परिणमन से जीव को दुःख होता है और स्वभाव/सम्यक्रूप परिणमन से सुख होता है; उनकी ही अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुण की ही मुख्यता से चर्चा की है।

५. प्रश्न – पुद्गल के गुणों का जीव के सुख-दुःख से क्या संबंध है?

उत्तर – पुद्गल के भी जिन गुणों का संबंध जीव के सुख-दुख से हैं; उनकी ही चर्चा जिनवाणी में आयी है। जैसे –

पुद्गल के स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन गुणों का संबंध जीव के स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियों से है। अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है, रसनेन्द्रिय का विषय रस है, घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध है एवं चक्षुरेन्द्रिय का विषय वर्ण है।

पुद्गल के गुण, जीव के सुख-दुःख में निमित्त नहीं है वे तो ज्ञेय हैं। जीव उनको विषय बनाकर दुःखी होता है।

जीव इन इंद्रिय-विषयों में आसक्त रहता है अर्थात् स्पर्शादि विषयों में सुख-दुःख की कल्पना करके संसार में दुःख भोगता हुआ भटकता है और जब वस्तुस्वरूप को यथार्थ जानकर स्पर्शादि से विरक्त हो जाता है, तब वह जीव मोक्षमार्गी होकर सिद्ध बन जाता है।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय नौवें के प्रारम्भ के दो पृष्ठ, आत्मानुशासन श्लोक-२

६. प्रश्न – आपने कर्णेन्द्रिय के विषय के संबंध में तो कुछ बताया ही नहीं; क्या कर्णेन्द्रिय के विषय में आसक्ति दुःख का कारण नहीं है?

उत्तर – क्यों नहीं, कर्णेन्द्रिय का विषय, शब्द भी तो जीव को संसार में अटकने-भटकने में निमित्त बनता ही है।

शब्द, पुद्गल द्रव्य की समानजातीय द्रव्यपर्याय है और वह कर्णेन्द्रिय का विषय है। इसलिए शब्दरूप पुद्गल का भी शास्त्र में ज्ञान कराया है। द्रव्यसंग्रह गाथा सोलह में पुद्गल द्रव्य की पर्यायों में सर्वप्रथम शब्दरूप पुद्गल-पर्याय का ही उल्लेख किया है।

पुद्गल के विशेष गुणों के कथन में भी जीव स्पर्शादि विषयों में आसक्त होकर दुःखी न हो; इस प्रयोजन (उद्देश्य) से ही स्पर्शादि गुणों का एवं शब्दादि पर्यायों का कथन किया है।

इसीप्रकार जिसमें चेतना अर्थात् ज्ञान-दर्शन पाया जाता है, उसे जीवद्रव्य कहते हैं – इस लक्षण में तो जीव के मात्र दो ही गुणों की चर्चा है।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में श्रद्धा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, क्रियावती-शक्ति आदि विशेष गुण भी बताये हैं। समयसार में भी आत्मा की ४७ शक्तियों का वर्णन आया है।

क्षुल्लक सहजानन्दजी वर्णी ने भी अन्य अनेक गुणों का कथन किया है। **आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने भी अपने प्रवचनों में आत्मा को अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय कहा है।**

एक द्रव्य में कितने गुण होते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि –

जीवद्रव्य अनन्त हैं, जीव से अनन्तगुणे अधिक पुद्गल द्रव्य हैं, पुद्गल से अनन्तगुणे अधिक तीन काल के समय हैं, तीन काल के समय से अनन्तगुणे अधिक आकाश के प्रदेश हैं और आकाश के प्रदेशों से भी अनन्तगुणे अधिक किसी भी एक अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में गुण पाये जाते हैं।

गुण का स्वरूप

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय-५, सूत्र-४१) में गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है – **'द्रव्याश्रयाः निर्गुणा गुणाः'** – जो द्रव्य के आश्रय से सदा रहते हैं और स्वयं अन्य गुणों से रहित हैं, वे गुण हैं।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में गुण की सरल-सुबोध परिभाषा देते हुए पण्डित गोपालदासजी बरैया ने लिखा है – **'जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में तथा उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं।'**

जिसप्रकार मूल द्रव्य कभी भी अशुद्ध नहीं होता, उसीप्रकार जिन गुणों का समूहरूप द्रव्य है – वे गुण भी कभी अशुद्ध नहीं होते अर्थात् **गुण नियमपूर्वक स्वभाव से शुद्ध ही होते हैं; क्योंकि वे स्वतः सिद्ध एवं निरपेक्ष होते हैं।**

गुण के सामान्य गुण व विशेष गुण – ऐसे दो भेद तो हैं; किन्तु विभाव गुण व स्वभाव गुण अथवा शुद्ध गुण व अशुद्ध गुण ऐसे भेद नहीं हैं। द्रव्य की तरह गुण भी अनादि-अनंत, अकृत्रिम एवं स्वयंभू तथा शुद्ध ही हैं।

यद्यपि द्रव्य का लक्षण बताने के लिए विशिष्ट असाधारण गुण का आधार लिया जाता है; तथापि ध्यान का विषय कोई एक गुण अथवा कोई विशिष्ट गुण न होकर अनन्त गुणों के समूहरूप शुद्ध जीव द्रव्य ही होता है। गुणों के द्वारा द्रव्य की ऐसी महिमा की जाती है, जिससे ध्यान का प्रयोजन सहजरूप से ही सिद्ध होता है।

पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १३ में द्रव्य एवं गुणों का सम्बन्ध आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने सर्वांगरूप से इसप्रकार कहा है –

"दव्वेण विणा ण गुणा, गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा।।

अर्थात् द्रव्य बिना, गुण नहीं होते और गुण के बिना, द्रव्य नहीं

होता; इसलिए द्रव्य और गुणों का अभिन्नपना है।''

इस कृति में जीव के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुणों का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है, अतः गुणों का परस्पर सम्बन्ध समझना भी बहुत आवश्यक है।

जैसे – सुवर्ण में पीलापना, भारीपना, चिकनापना आदि अनेक गुण एक साथ रहते हुए भी अपने-अपने स्वरूप से भिन्न ही हैं, उसीप्रकार श्रद्धा आदि अनन्त गुण एक जीव द्रव्य में रहते हुए भी वे अपने-अपने लक्षण से भिन्न-भिन्न ही हैं।

प्रत्येक गुण अन्य गुण से भिन्न होता है; इसका ज्ञान कराने के लिए ही आचार्य उमास्वामी ने 'द्रव्याश्रयाः निर्गुणा गुणाः' ऐसा कहा है अर्थात् गुण, द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और **अन्य गुण से रहित होते हैं।**

अनन्त गुणों का क्षेत्र एक ही द्रव्य होने पर भी वे अनन्त गुण अपने-अपने भिन्न-भिन्न लक्षण के कारण भिन्न-भिन्न ही रहते हैं एवं भिन्न-भिन्न ही अपने अर्थक्रियाकारित्वरूप कार्य करते हैं।

जीव के असंख्यात प्रदेशों में श्रद्धा आदि अनन्त गुण एक साथ व्यापकरूप से एक समय में रहते हैं और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अलग-अलग कार्य करते हैं।

जिससमय श्रद्धा गुण के कारण प्रतीति, विश्वास, आस्था और रुचिरूप एक कार्य जीवद्रव्य में चलता रहता है, उसीसमय ज्ञान गुण द्वारा जानना, समझना भी चलता ही रहता है तथा उसीसमय चारित्र गुण भी अपनी स्वभावगत विशेषता से लीन होना, मग्न होना, रमण करना इत्यादिरूप कार्य करता ही रहता है। कोई भी गुण कार्य, अर्थात् परिणमन के बिना रहता ही नहीं।

यहाँ तो मात्र श्रद्धा आदि तीन प्रमुख गुणों को लेकर ही चर्चा चल रही है; परन्तु गुण तो अनन्त हैं और उन अनन्त गुणों का अपना-अपना अलग-अलग कार्य एक साथ चलता ही रहता है।

७. प्रश्न – फिर आप विद्यमान अनन्त गुण और उनके अनन्तानन्त कार्य की चर्चा क्यों नहीं करते ? मात्र तीन गुणों की ही चर्चा क्यों कर रहे हैं ?

उत्तर – अल्पज्ञता के कारण हमें अनन्त गुणों का ज्ञान नहीं हो सकता। अनन्त गुणों को जानने का कार्य तो केवलज्ञान से ही हो सकता है।

मति-श्रुतरूप अल्पज्ञान से हम मर्यादित गुणों को ही जान सकते हैं। **उन मर्यादित गुणों में भी जिनसे हमारा मोक्षमार्ग का मूल प्रयोजन सिद्ध हो, उन गुणों की ही हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं।**

८. प्रश्न – द्रव्य में अनन्त गुणों का रहना और उनका अलग-अलग कार्य होना – यह मात्र क्या जीवद्रव्य में ही होता है? या अन्य पुद्गलादि अजीव द्रव्यों में भी होता है ?

उत्तर – हाँ ! पुद्गलादि सभी द्रव्यों में यह कार्य निरन्तर अवश्य होता ही रहता है; तथापि उनसे हमारा किसी भी प्रकार से मोक्षमार्ग का प्रयोजन सिद्ध न होने से यहाँ उन पुद्गलादि द्रव्यों की तथा उनमें विद्यमान अनंतगुणों की चर्चा हमें अपेक्षित नहीं है, वे द्रव्य एवं उनके गुण यहाँ गौण हैं। तथापि जिज्ञासु पाठकों के हितार्थ संक्षेप में उसका स्वरूप निम्नानुसार हम दे रहे है –

पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि अनन्त विशेष गुण रहते हैं और उनका अपना-अपना, अलग-अलग कार्य भी चलता ही रहता है।

जैसे – कच्चा आम एक पुद्गल पिण्ड है। उस आम में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण आदि विशेष गुण हैं। स्पर्श गुण में जिस समय कठोरता से कोमलता का परिणमनरूप कार्य हो रहा है; उसीसमय उस कच्चे आम का हरा वर्ण भी धीरे-धीरे पीत वर्ण में बदल रहा है। उसीसमय उसी कच्चे आम का खट्टा रस भी मधुरता में परिणम रहा है।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि स्पर्श गुण में परिणमन हो रहा है, इसलिए रस गुण भी परिणम रहा हो – ऐसा नहीं है; अपितु इन स्पर्शादि

गुणों में जो परिणमन हो रहा है, वह अपने-अपने कारण से स्वतंत्ररूप से एवं स्वाधीनता से हो रहा है।

इसप्रकार जीव द्रव्य में जिस तरह ज्ञानादि अनंतगुण अपने स्वभाव से स्वतंत्ररूप से रहते हुए भी भिन्न-भिन्नरूप से ही परिणमते हैं। उसीप्रकार पुद्गल द्रव्य में भी यह कार्य निरन्तर होता ही रहता है। धर्मादि अरूपी द्रव्यों में भी ये सब कार्य इसीप्रकार होते ही रहते हैं।

पर्याय का स्वरूप

वास्तव में द्रव्य एवं गुण का ज्ञान करने के लिए पर्याय ही एक मात्र साधन है। द्रव्य और गुण दोनों - अपना परिचय कराने में असमर्थ हैं; क्योंकि वे शक्ति के रूप से सदा एकरूप बने रहते हैं। **अतः द्रव्य एवं गुणों का परिचय पर्याय से ही होता है।**

इतना ही नहीं पर्याय का परिचय भी पर्याय से ही प्राप्त होता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि द्रव्य, गुण एवं पर्याय – इन तीनों का परिचय पर्याय द्वारा ही होता है।

यदि दुनियाँ में पर्याय नामक पदार्थ/अर्थ नहीं होता तो द्रव्य, गुण व पर्याय का परिचय ही नहीं होता; क्योंकि पर्याय ही मुखर/प्रगट/व्यक्त है। द्रव्य और गुण तो सतत मौन/अप्रगट/अव्यक्त ही अर्थात् शक्तिरूप से ही रहते हैं।

पर्याय का लक्षण देते हुए आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय-५, सूत्र-४२) में कहा है – **'तद्भावः परिणामः।'** उसका होना अर्थात् द्रव्य का प्रति समय बदलते रहना परिणाम/पर्याय है। परिणाम, पर्याय का ही दूसरा नाम है।

जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, उसी द्रव्य के भीतर उसी के स्वभाव में स्वभाव के अनुरूप ही जो बदल/परिवर्तन होता है, उसे पर्याय कहते हैं।

जैसे सुवर्ण धातु, हार से अंगुठी और अंगुठी से कड़ा, कुंडल

आदि अन्य किसी भी आभूषणरूप परिवर्तित होती रहती है; वैसे ही प्रत्येक द्रव्य अपनी धारा के भीतर परिवर्तन करता रहता है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि द्रव्य अलग रहता है और उसकी पर्याय अलग रहती है; अपितु प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा है कि **द्रव्य स्वयं अपने स्वभाव का त्याग किये बिना प्रति समय भिन्न-भिन्न अवस्था को प्राप्त होता है। जीव ज्ञानस्वभावी है, वह अपने ज्ञानस्वभाव का त्याग किए बिना अन्य-अन्य गति आदि में परिभ्रमण करता है।**

पर्याय की परिभाषा अत्यन्त सुलभ शब्दों में गुरु गोपालदासजी बरैया ने जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में इसप्रकार समझाई है –

''गुणों के कार्य अर्थात् परिणमन को पर्याय कहते हैं।''

९. प्रश्न – जैसे द्रव्य के छह भेद हैं, वैसे पर्याय के भी भेद होंगे, वे कौन-कौन से हैं? स्पष्ट करें।

उत्तर – हाँ ! पर्याय के भी अनेक भेद हैं। उनकी अलग-अलग अपेक्षाएँ है। अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय – इन दोनों को क्रमशः गुणपर्याय और द्रव्यपर्याय भी कहते हैं।

इसके अतिरिक्त स्वभावपर्याय और विभावपर्याय ऐसे दो भेद भी हैं। प्रकरणवश यहाँ स्वभावपर्याय और विभावपर्याय की मुख्यता है, अतः उनकी ही चर्चा करते हैं। इनमें भी हमें जीवद्रव्य की पर्यायों की ही मुख्यता है, इसलिए जीव को लेकर ही यहाँ विचार करते हैं।

स्वभावपर्याय – जीव की जिस पर्याय में कर्म का उदय आदि निमित्त न हो, उसे (परनिरपेक्ष) स्वभावपर्याय कहते हैं।

विभावपर्याय – जीव की जिस पर्याय में कर्म का उदय आदि निमित्त हो, उसे (परसापेक्ष) विभावपर्याय कहते हैं।

श्रद्धादि गुणों का कार्य बताते हैं –

श्रद्धा – श्रद्धा किसी-न-किसी एक में अहंपना करती है। एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि एवं भोक्तृत्वबुद्धिरूप कार्य भी श्रद्धा का ही है। (यहाँ बुद्धि का अर्थ मान्यता लेना है।)

प्रतीति, मान्यता, विश्वास, अभिप्राय इन शब्दों का उपयोग भी श्रद्धा के लिए किया जाता है।

ज्ञान – जानना, स्वसंवेदन करना, विशेष प्रतिभास होना, झलकाना, स्व-पर प्रकाशन इत्यादि कार्य ज्ञान करता है।

चारित्र – स्वरूप में रमना, जमना, अनुभवना, स्थिर होना, मग्न होना, लीन होना आदि कार्य, चारित्र गुण का है।

इसी को निम्नप्रकार भी समझ सकते हैं –

श्रद्धा का कार्य (धर्म) (मैंपना, मैं मानना) मानना है।

ज्ञान का कार्य (धर्म/जानना है।

चारित्र का कार्य (धर्म) लीनता, स्थिरता करना है।

लोक में कहावत है – सूझ, बूझ, रीझ से काम लेना चाहिये। सूझना = दिखाई पड़ना, बूझना = जानकारी हासिल करना, रीझना = तल्लीन हो जाना।

जैसे – कोई पथिक (राहगीर) किसी अन्य व्यक्ति से टकरा जाता है तो उसे कहा जाता है कि क्या सूझता नहीं है? रास्ता भूल गये हो तो बूझ क्यों नहीं लेते?

इसीप्रकार इस संसारी भ्रमित बुद्धिवाले जीव को सुखी होने का उपाय सूझता नहीं है और भेड़चाल से गतानुगतिक लोक की तरह इन्द्रिय विषयों के पीछे अंधा हो दौड़ रहा है, इधर-उधर टकराता फिरता है – लड़ना-झगड़ना चालू रखता है। कभी क्रोध, तो कभी मान, कभी मायाचारी और कभी लोभ भाव कर कर दुःखी होता रहता है। फिर भी विचार नहीं करता कि सच्चा, स्वाधीन निराकुल सुख कहाँ से व कैसे मिलेगा।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव में विचार करने की शक्ति तो है, निर्णय कर सकने की प्रगट ज्ञान शक्ति है, यही एक महान पावर (सामर्थ्य) इसके हाथ में है, जिसके सदुपयोग से यह सच्चे सुख का मार्ग पा सकता है।

जिनागमानुसार सर्व संसारी अज्ञानी जीवों में अनादि ही से तीन प्रकार के असाधारण भाव/परिणाम पाये जाते हैं।

एक – ज्ञान-दर्शन-वीर्य का क्षायोपशमिक भाव, **दूसरा** – श्रद्धा व चारित्र का मोह-राग-द्वेषरूप औदयिक भाव तथा तीसरा पारिणामिक भाव शुद्ध जीवत्व शक्तिरूप भाव। **इन तीन भावों में से विचार अर्थात् निर्णय करने की शक्ति एक मात्र ज्ञान में है।**

१०. प्रश्न – आपने अभी तक कहीं कार्य, कहीं परिणमन, कहीं बदलना – इन शब्दों को प्रयोग किया है। आप इनके लिए एक ही शब्द का प्रयोग करेंगे तो यह विषय हमें और अधिक सुलभता से समझ में आयेगा।

उत्तर – आपकी बात सही है। इन तीनों शब्दों का अर्थ पर्याय (अवस्था) ही है। अब आगे पर्याय शब्द का ही प्रयोग करने का प्रयास करेंगे और पर्याय का स्वरूप भी विशेषरूप से स्पष्ट करेंगे।

पर्याय के लिए अन्य भी अनेक नाम जिनवाणी में प्रचलित हैं – **जैसे – हालत, दशा, अवस्था, परिणाम, परिणमन, परिणति, पलटना, उत्पाद, व्यय, व्याप्य, क्षणिकता, ये सभी पर्याय के ही पर्यायवाची नाम हैं। अन्वय के व्यतिरेक को भी पर्याय कहते हैं। द्रव्य के धर्म या अंश को भी पर्याय कहा गया है।**

११. प्रश्न – सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन, मोक्षमार्ग, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रादि पर्यायों का कम से कम (जघन्य) काल अंतर्मुहूर्त ही शास्त्र में कहा गया है, इसमें भी क्या कुछ खास कारण है? हो तो वह भी बताइए।

उत्तर – हाँ, खास कारण है। किसी भी जीव को सम्यग्दर्शन की पर्याय १,२,३,४ आदि समयों की कभी नहीं होती। सम्यग्दर्शन की पर्यायों का जघन्य काल भी प्रवाहरूप से नियम से अंतर्मुहूर्त तो होता ही है।

उसीतरह किसी के भी मिथ्यादर्शन का (नवीनरूप से मिथ्यादर्शनरूप पर्याय उत्पन्न हो तो) काल भी प्रवाहक्रमसे[१] अंतर्मुहूर्त से कम काल का

१. प्रवाहक्रम से शब्द का अर्थ – १,२,३,४, समय को जोड़-जोड़ कर मुहूर्त, अंतर्मुहूर्त, घड़ी, घंटा, दिवस आदि व्यवहार काल बनता है।

होता ही नहीं।

मोक्षमार्ग, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र के संबंध में भी जघन्य काल अंतर्मुहूर्त ही समझना चाहिए। ये पर्यायें भी किसी जीव को १,२ आदि समय मर्यादा की नहीं होती। इन पर्यायों की पर्यायगत पात्रता ही ऐसी है कि इनका जघन्य काल अंतर्मुहूर्त ही होता है।

विश्व अनादि-अनंत है। द्रव्य अनादि-अनंत है। प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक गुण अनादि-अनंत है। जो-जो अनादि-अनंत होता है, वह नियम से अकृत्रिम, स्वयम्भू और सहज एवं स्वभाव से शुद्ध होता है, उसको बनानेवाला कोई कर्त्ता नहीं होता। जिसका कोई कर्त्ता/उत्पादक नहीं होता, उसका कोई रक्षक व नाश करनेवाला भी नहीं होता है।

इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय जो परिवर्तन होता है, उसे पर्याय कहते हैं। यह पर्याय सादि-सांत होती है, प्रति समय नई-नई उत्पन्न होती है, अतः उस पर्याय का कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिए – ऐसा स्थूलरूप से सब को लगता है।

वस्तु-व्यवस्था के अनुसार सूक्ष्मता से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि अपने काल में होनेवाली प्रत्येक पर्याय अपने ही कारण से होती है। इसे ही पर्यायगत सत् कहते हैं।

प्रवचनसार गाथा १०२ की टीका में इसे ही पर्याय का 'जन्मक्षण' कहा है – इस शब्द से यह विषय विशेषरूप से स्पष्ट होता है।

प्रत्येक समय की पर्याय अपने कारण से सत् है, इस विषय के विशेष ज्ञान के लिए आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचनसार गाथा ९९,१००, १०१ पर हुए प्रवचन **पदार्थ विज्ञान** नाम से पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित है, उसे अवश्य देखें।

इतना जरूर है कि द्रव्य की जब-जब कोई भी पर्याय/अवस्था होती है, उस समय उस पर्याय की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य की कोई-न-कोई अनुकूल पर्याय अवश्य होती है, जिसे निमित्त कहते हैं और उस निमित्त को ही उत्पन्न होनेवाली पर्याय/कार्य का कर्त्ता व्यवहार से कहा जाता है।

कर्त्ता-कर्म

हम यहाँ घटरूप कार्य को पर्यायरूप से स्वीकार कर दृष्टान्त देते हैं। **जैसे** – घट मिट्टी से उत्पन्न हुआ है। उस घट का वास्तविक कर्त्ता तो मिट्टी स्वयं है; क्योंकि मिट्टी स्वयं घटरूप से परिणमित हुई है; लेकिन जब-जब मिट्टी से घट बनता है, तब-तब कुम्हार का योग और उपयोग (इच्छा) उस घट को बनाने में निमित्त है, यह जानकर घट का कर्त्ता कुम्हार को मानने की इस दुनिया की स्थूल धारणा है, जिसे जिनधर्म में मात्र निमित्त कहा गया है।[१]

जैसे – घट बनने में चक्र, डोर, पानी आदि भी निमित्त हैं; लेकिन जो स्वयमेव चेतन है, सक्रिय है, जानकार है – ऐसे प्रमुख निमित्त-कुम्हार को ही उस कार्य का कर्त्ता माना जाता है।

कार्य में जो वस्तु निमित्त होती है, उसे लेकर तो झगड़ा हो ही सकता है, होता ही रहता है।

जैसे – सार्वजनिक धर्मशाला समाज ने बनवायी, उसमें अनेक लोग निमित्त हैं। दातारों के दान के बिना धर्मशाला बनेगी कैसी ? कारीगर चाहिए ही चाहिए। नगर-निगम अथवा ग्रामपंचायत की अनुकूलता के बिना भी धर्मशाला नहीं बनेगी। इंजीनियर तो सबसे पहले आवश्यक होता है; साथ ही साथ आर्किटेक्ट भी इन दिनों में अनिवार्य माना जाता है। मुकादम (पर्यवेक्षक) अर्थात् ओवरसियर और मजदूर तो अत्यन्त आवश्यक हैं। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति कहेगा की 'मैंने, हमने यह बिल्डिंग बनायी।'

जो-जो ईंट, सीमेंट, लोहा आदि स्वयमेव बिल्डिंगरूप से परिणत हो गये हैं, उनका तो कोई नाम लेने के लिए भी तैयार नहीं है। जो-जो

---

१. समयसार गाथा-१०० की टीका।

व्यक्ति निमित्त हैं, उनमें मैंने बनाई, मैंने बनाई, ऐसा कहने एवं मानने के लिए सब आगे-आगे आते ही रहते हैं।

इसलिए मूल वस्तु जो स्वयं कार्य/पर्यायरूप से परिणमित होती है, वही कर्त्ता है। उसकी मुख्यता से जानना ही वास्तविक जानना है।

कर्त्ता के सम्बन्ध में जिनवाँणी में तीन प्रकार के कथन मिलते हैं :– १. द्रव्य, पर्याय का कर्त्ता है। २. गुण, पर्याय/कार्य का कर्त्ता है। तथा ३. पर्याय ही पर्याय का कर्त्ता है। इन तीनों कथनों को शास्त्र के आधार से ही समझने का यत्न करते हैं –

१. द्रव्य को पर्याय का कर्त्ता कहते हैं; क्योंकि द्रव्य में से ही पर्याय उत्पन्न होती है – द्रव्य के आधार से ही पर्याय प्रगट होती है। समयसार कलश क्रमांक ५१ में आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने **'यः परिणमति स कर्त्ता'** – ऐसा कहा है। अर्थात् जो परिणमित होता है वह (द्रव्य) कर्त्ता है। कलश ४९ में भी आचार्य श्री लिखते हैं –

''व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्म्यन्यपि।
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थिति :॥

अर्थात् व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है, अतत्स्वरूप में नहीं होती और व्याप्यव्यापकभाव के बिना कर्त्ताकर्म की स्थिति कैसी? अर्थात् कर्त्ताकर्म की स्थिति नहीं ही होती।''

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि द्रव्य व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। अतः द्रव्य कर्त्ता है एवं पर्याय कर्म है। इसतरह एक ही द्रव्य और उसकी ही पर्याय में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध है, अन्य किसी प्रकार से कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।

तात्पर्य यह है कि उत्पन्न हुई पर्याय (व्याप्य) का कर्त्ता व्यापकरूप द्रव्य को छोड़कर जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से भिन्न परद्रव्य है, वह किसी भी परिस्थिति में पर्याय का कर्त्ता नहीं बन सकता।

२. गुण को पर्याय का कर्त्ता कहते हैं, यह 'गुण के परिणमन/कार्य/विकार (विशेष कार्य) को पर्याय कहते हैं', – इस परिभाषा से ही स्पष्ट होता है। आलाप पद्धति में पर्याय अधिकार के सूत्र क्रमांक १५ में कहा भी है – **''गुणविकाराः पर्यायाः।''** इसका अर्थ है – गुणों के विकार (विशेष कार्य) को पर्याय कहते हैं।

द्रव्य के परिणमन को पर्याय कहते हैं – यह द्रव्यार्थिकनय अर्थात् अभेदनय का कथन है और गुण के परिणमन (कार्य, विकार) को पर्याय कहते हैं – यह पर्यायार्थिक अथवा भेदनय का कथन है – ऐसा समझना चाहिए।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं – ऐसा जो अभेद कथन है – उसी द्रव्य में ही भेद करके किसी एक गुण की मुख्यता से गुण के परिणमन को पर्याय कहते हैं तथा उस पर्याय का कर्त्ता गुण को ही बताया जाता है।

गुण को कर्त्ता कहने में अभिप्राय यह है कि **एक गुण की पर्याय का कर्त्ता दूसरा गुण नहीं होता है। जैसे** – श्रद्धा गुण की पर्याय का कर्त्ता ज्ञान गुण नहीं होता है व ज्ञान गुण की पर्याय का कर्त्ता श्रद्धा गुण नहीं होता है।

३. द्रव्य को अथवा गुण को विवक्षावश पर्याय का कर्त्ता न कहते – न मानते हुए **पर्याय को पर्याय का कर्त्ता कहते हैं,** यह विषय जिनवाणी में स्पष्ट शब्दों में मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द रचित प्रवचनसार ग्रंथ की गाथा १०२ की अमृतचन्द्राचार्यकृत संस्कृत टीका में यह विषय अत्यन्त विशदता से आया है। इस टीका में प्रत्येक पर्याय का अपना-अपना जन्मक्षण भिन्न-भिन्न ही होता है, यह विषय बताया गया है।

पर्याय का कर्त्ता द्रव्य को अथवा गुण को मानने में भी परावलम्बन की आपत्ति आ जाती है; स्वतंत्रता में बाधा आती है। इसलिए जो

पर्याय जिस समय प्रगट हो गयी, वही पर्याय उस पर्याय का कर्त्ता है, यह माना गया है। **इसे ही पर्यायगत योग्यता भी कहते हैं। इसी को वस्तु-स्वरूप के स्वतंत्रता की पराकाष्ठा भी कहना योग्य है।**

विश्व में अनंतानंत द्रव्य हैं। उनमें प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्व-चतुष्टय से (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) भिन्न-भिन्न ही है, यह कथन वस्तुनिष्ठ है। एक द्रव्यगत अनंत गुण (संज्ञा, संख्या, लक्षण व प्रयोजन) की अपेक्षा परस्पर भिन्न (अन्य) ही हैं; भले उन सब गुणों का द्रव्य, क्षेत्र, काल एक हो, तथापि भाव की अपेक्षा प्रत्येक गुण भिन्न (अन्य) ही है।

उसी तरह प्रत्येक समय में प्रगट होने वाली पर्याय भी अपने-अपने काल में अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण भिन्न (अन्य) ही है अर्थात् पूर्व पर्याय में से उत्तर पर्याय नहीं आती और वर्तमानकालीन पर्याय में से भविष्यकालीन पर्याय उत्पन्न नहीं होती, यह वास्तविक वस्तु का स्वरूप है।

यदि कोई द्रव्य एवं गुण को तो स्वतंत्र सत् माने, परन्तु प्रत्येक पर्याय को अपने समयगत/पर्यायगत काल का सत् न माने अर्थात् किसी द्रव्य की किसी भी पर्याय को परतंत्र माने, तो उसने द्रव्य एवं गुण को भी परतंत्र ही मान लिया है, ऐसा समझना अनिवार्य हो जाता है।

स्वतंत्रता – वस्तु स्वातंत्र्य तो जिनधर्म का मूल सिद्धान्त है, प्राण है, सर्वस्व है।

यदि किसी भी एक द्रव्य, एक गुण अथवा एक पर्याय को कोई जीव परतंत्र स्वीकार करेगा, तो वह व्यक्ति मोक्षमार्ग प्रगट करने में भी स्वाधीन/स्वतंत्र नहीं हो सकेगा। यदि मोक्षमार्ग प्रगट नहीं कर पायेगा, तो मोक्ष भी कैसे प्राप्त कर सकेगा? इसलिए द्रव्य एवं गुण के समान ही पर्याय को भी स्वतंत्र मानना आवश्यक है।

१२. **प्रश्न** – पर्याय मात्र एक समयवर्ती ही होती है, यह विषय हमें स्पष्ट समझ में नहीं आया; कृपया स्पष्ट करें।

उत्तर – पर्याय वास्तविक एक समयवर्ती ही होती है; यह विषय अति स्पष्ट है। प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय उत्पाद होता है और व्यय भी होता है, यह विषय आप मानते हो या नहीं? यदि नहीं मानोगे तो द्रव्य का स्वरूप ही नहीं बनेगा।

द्रव्य सत्स्वरूप है। आचार्य उमास्वामी ने **'सद्द्रव्यलक्षणम्'** ऐसा सूत्र कहा है और इसे ही स्पष्ट करते हुए आगे फिर एक सूत्र लिखते हैं – **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** जो सत् कहा गया है, वह कूटस्थ अर्थात् सर्वथा नित्य नहीं है; परन्तु कथंचित् नित्य तथा कथंचित् अनित्य है।

वस्तु में पर्याय की अपेक्षा प्रतिसमय नयी अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था नष्ट होती है और वस्तु, द्रव्यरूप से कायम बनी रहती है – ऐसा द्रव्य का स्वरूप है।

इसलिए प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय (अवस्था) एक समयवर्ती ही होती है; यह निश्चित है।

निरन्तर प्रवाह क्रम की अपेक्षा अधिक काल तक एक समान अवस्था होने के कारण पर्याय (अवस्था) को कदाचित् अधिक काल पर्यंत टिकनेवाली (व्यंजनपर्याय) भी कहते हैं। नर-नारकादि पर्याय को सादि-सान्त कहा जाता है। भव्य जीव की संसार पर्याय अनादि-सान्त एवं समान-समानरूप से अवस्था रहने के कारण अभव्य जीव की संसार पर्याय को अनादि-अनंत कहा एवं माना जाता है। विवक्षा के अनुसार सब कथन सत्य है।

अस्तु। उक्त विषय को विशेष जानने के लिए पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित 'निमित्त-उपादान' और 'मूल में भूल' कृति का अध्ययन अवश्य करें।

सम्यक्त्व की पूर्णता

(उत्पत्ति के साथ)

सम्यक्त्व कहो अथवा सम्यग्दर्शन कहो एक ही है। यह श्रद्धा गुण की स्वभाव पर्याय है। जीव द्रव्य के अनंत गुणों में श्रद्धा गुण का स्वरूप एकदम भिन्न है।

श्रद्धा गुण के सम्यक् परिणमन से अनंत संसार सांत होता है और मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है, इतना भी कथन सम्यक्त्व की महत्ता के लिए कम नहीं है।

सम्यक्त्वरूप पर्याय ऐसी अलौकिक एवं अद्‌भुत है कि वह अनंत गुणों में सम्यक्‌पने में निमित्त होती है। इस विशेषता से भी आश्चर्यकारी यह स्वरूप है कि **वह सम्यक्त्व किसी भी जीव को किसी भी गति में आधा-अधुरा होता ही नहीं। जब भी किसी संज्ञी पर्याप्तक जीव के सम्यक्त्व प्रगट होता है, तब वह पूर्णरूप से ही प्रगट होता है। आधा-अधूरापन सम्यक्त्व पर्याय के साथ कभी हो ही नहीं सकता।**

१३. कोई यहाँ पूछ भी सकता है कि ऐसा क्यों है? उसके उत्तर में स्वभावगत विशेषता है – यही कहना संभव है, अन्य कोई उत्तर किसी के पास भी नहीं है।

अब यहाँ श्रद्धा/सम्यक्त्वरूप पर्याय का वर्णन करते हैं।

श्रद्धा गुण की दो पर्यायें होती हैं – १) स्वभावपर्याय २) विभावपर्याय। जीव के श्रद्धा गुण की स्वभावपर्याय को सम्यग्दर्शन और विभावपर्याय को मिथ्यादर्शन कहते हैं। स्वभावपर्याय जीव के लिए सुखदायक होती है और विभावपर्याय दुःखदायक होती है।

१४. प्रश्न – उत्पन्नध्वंसी पर्याय तो एक समयवर्ती होती है, सादि-सांत होती है, उसकी चर्चा करने में क्या लाभ है ?

उत्तर – पर्याय मात्र क्षणध्वंसी/एक समयवर्ती ही होती है – ऐसा समझना यथार्थ है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से प्रत्येक पर्याय एक समयवर्ती ही होती है; किन्तु इस नय की अपेक्षा से व्यवहार नहीं चलता।

चर्चा के लिए अथवा समझने-समझाने के लिए एक समयवर्ती सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय के विषय का कुछ लाभ नहीं है। इसलिए स्थूल ऋजुसूत्रनय का प्रयोग किया जाता है। हम मनुष्य हैं यह भी स्थूल ऋजुसूत्र नय का विषय है।

अनादि-अनन्त पर्याय भी पर्यायार्थिक नय का विषय है। जैसे – **आलापपद्धति** शास्त्र में अनादि-अनन्त पर्यायार्थिक नय के विषय का उदाहरण मेरूपर्वत दिया है।[१]'

यहाँ मेरूपर्वत पुद्गलद्रव्य की समान जातीय स्कन्धरूप पर्याय है; किन्तु वह पर्याय होते हुए भी अनादि से है और अनन्त काल पर्यंत सामान्य रूप से वैसी ही रहनेवाली है **"फिर भी उनमें से कितने ही परमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं। इसप्रकार मिलना-बिछुड़ना होता रहता है।"** (मो. प्र. पृष्ठ २२)। अकृत्रिम जिनबिम्ब, समुद्र, पर्वत, द्वीप आदि को भी यहाँ अनादि-अनंत पर्यायरूप ही समझना चाहिए।

वास्तविकरूप से विचार किया जाय तो प्रत्येक द्रव्य की पर्याय एक समयवर्ती ही होती है। पर्याय को दो आदि समयवर्ती कहना उपचार है।

इसलिए इस कृति में जहाँ-जहाँ मिथ्यादर्शन, सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि पर्यायों का प्रयोग किया जायेगा, उसे मात्र एक समयवर्ती पर्याय नहीं समझना। **सादृश्य प्रवाहक्रम के कारण कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त काल की पर्याय का तो स्वीकार करना आवश्यक है ही।**

मोक्ष अर्थात् सिद्ध पर्याय को भी सादि-अनंत समझना आवश्यक है।

---

१. सूत्र-५८, अनादिनित्यपर्यायार्थिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्यो मेर्वादिः।

१५. प्रश्न – आपने कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त काल और अधिक से अधिक अनादि अनंत, अनादिसांत तथा सादि-अनन्त काल की पर्याय कही, उसमें एक समयवर्ती पर्याय गर्भित है या नहीं ?

उत्तर – एक समयवर्ती पर्याय भी अवश्य गर्भित है। **पर्याय एक समयवर्ती ही होती है, यह निश्चय कथन है** और अन्य दो, तीन, चार समयवर्ती को अथवा अंतमुहूर्त कालवर्ती आदि काल पर्यंत स्थायी अवस्था को पर्याय कहना/मानना – यह सब व्यवहार कथन है। तथापि पर्याय मात्र एक समयवर्ती और सादि-सान्त ही होती है – ऐसा कथन हमें यहाँ विवक्षित नहीं है।

पर्याय के स्वरूप के सम्बन्ध में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी के विचार द्रष्टव्य है –

"श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन है, यह व्याख्या गुण और पर्याय के स्वरूप का भेद समझने के लिये है। **गुण त्रैकालिक शक्तिरूप होता है और पर्याय प्रति समय व्यक्तिरूप होती है। गुण से कार्य नहीं होता, किन्तु उसकी पर्याय से कार्य होता है।** पर्याय प्रति समय बदलती रहती है, इसलिये प्रति समय नई पर्याय का उत्पाद और पुरानी पर्याय का व्यय होता ही रहता है।

जब श्रद्धा गुण की क्षायिक पर्याय (क्षायिक सम्यग्दर्शन) प्रगट होती है, तबसे अनन्तकाल तक वह वैसी ही रहती है। तथापि प्रति समय नई पर्याय की उत्पत्ति और पुरानी पर्याय का व्यय होता ही रहता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की एक समय मात्र की निर्मल पर्याय है।"[१]

'अन्वय के व्यतिरेक को पर्याय कहते हैं' – इसमें पर्याय की परिभाषा बताई है। **द्रव्य के जो भेद हैं, सो पर्याय हैं। द्रव्य तो त्रिकाल है, उस**

१. सम्यग्दर्शन पृष्ठ-५०

द्रव्य को क्षण-क्षण के परिणमन के भेद से (क्षणवर्ती अवस्था से) लक्ष में लेना, सो पर्याय है। पर्याय का स्वभाव व्यतिरेकरूप है अर्थात् एक पर्याय के समय दूसरी पर्याय नहीं होती। गुण और द्रव्य सदा एकसाथ होते हैं; किन्तु पर्याय एक के बाद दूसरी होती है।

जब अरिहन्त भगवान की केवलज्ञानरूप पर्याय है, तब उसके पूर्व की अपूर्ण ज्ञानदशा नहीं होती। वस्तु के जो एक-एक समय के भिन्न-भिन्न भेद हैं, सो पर्याय है। **कोई भी वस्तु पर्याय के बिना नहीं हो सकती।**

आत्मद्रव्य स्थिर रहता है और उसकी पर्याय बदलती रहती है। द्रव्य और गुण एकरूप हैं, उनमें भेद नहीं है; किन्तु पर्याय में अनेक प्रकार से परिवर्तन होता है, इसलिये पर्याय में भेद है। पहले द्रव्य-गुण पर्याय का स्वरूप अर्थात् लक्षण भिन्न-भिन्न बताकर फिर तीनों को अभेद द्रव्य में समाविष्ट कर दिया है।''[१]

द्रव्य-गुण त्रैकालिक हैं, उसके प्रतिक्षणवर्ती जो भेद हैं सो पर्याय है। पर्याय की मर्यादा एक समय मात्र की है। इसलिये दो पर्याय कभी एकत्रित नहीं होती।

पर्यायें एक दूसरे में अप्रवृत्त हैं। एक पर्याय दूसरी पर्याय में नहीं आती; इसलिये पहली पर्याय के विकाररूप होने पर भी मैं अपने स्वभाव के आश्रय से दूसरी पर्याय को निर्विकार कर सकता हूँ।

इसका अर्थ यह है कि विकार एक समय मात्र के लिये है और विकार रहित स्वभाव त्रिकाल है। पर्याय एक समय मात्र के लिए ही होती है, यह जान लेने पर यह प्रतीति हो जाती है कि विकार क्षणिक है।

पर्याय एक समय की मर्यादावाली है। एक पर्याय का दूसरे समय में नाश हो जाता है, इसलिये एक अवस्था में से दूसरी अवस्था नहीं

---

१. सम्यग्दर्शन पृष्ठ-८०

आती; किन्तु द्रव्य में से ही पर्याय आती है, इसलिये पहिले द्रव्य का स्वरूप बताया है। पर्याय में जो विकार है, सो स्वरूप नहीं है; किन्तु गुण जैसी ही निर्विकार अवस्था होनी चाहिये। इसलिये बाद में गुण का स्वरूप बताया है। राग अथवा विकल्प में से पर्याय प्रगट नहीं होती; क्योंकि पर्याय एक दूसरे में प्रवृत्त नहीं होती।

१६. प्रश्न – पर्याय को चिद्विवर्तन की ग्रन्थी क्यों कहा है?

उत्तर – पर्याय स्वयं तो एक समय मात्र के लिये है; परन्तु **एक समय की पर्याय से त्रैकालिक द्रव्य को जानने की शक्ति है।** एक ही समय की पर्याय में त्रैकालिक द्रव्य का निर्णय समाविष्ट हो जाता है।[१]''

कुछ पर्यायें निर्मलता/शुद्धता की अपेक्षा नियम से पूर्ण ही होती हैं और कुछ पर्यायें साधक अवस्था में नियम से अपूर्ण ही होती हैं; इस विषय को भी यहाँ अवश्य समझना चाहिये।

जैसे – केवलज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान की पर्याय नियम से पूर्ण ही होती हैं – ऐसा कभी नहीं होता कि केवलज्ञान आधा-अधूरा होता हो।

तथा मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय – ये चारों क्षायोपशमिक ज्ञान कभी पूर्ण नहीं होते। ज्ञान की ये चारों पर्यायें हमेशा के लिए अपूर्ण ही होती हैं।

कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से जो ज्ञान तथा चारित्र की पर्यायें होती हैं, वे सब शुद्धता की अपेक्षा अपूर्ण ही रहती हैं, ऐसा नियम समझना चाहिए।

श्रद्धागुण की औपशमिक सम्यक्त्वरूप पर्याय एवं क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय – दोनों परिपूर्ण एवं सर्वथा निर्मल ही होती है।

इसी क्रम में **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को सदोष तो माना गया है; लेकिन सम्यक्त्व/प्रतीति अधूरी नहीं है।**

१. सम्यग्दर्शन, पृष्ठ-८३

यद्यपि सम्यक्त्व में चल, मल, अगाढ़ दोष तो हैं; तथापि सम्यक्त्वरूप यथार्थ आत्मश्रद्धान में अधूरापन नहीं है।

इस विषय के यथार्थ ज्ञान हेतु शास्त्राधाररूप में धवला पुस्तक पहला, पृष्ठ ३९७ से ४०० पर्यंत के हिन्दी अनुवाद का अंश नीचे दे रहे हैं –

"अब सम्यक्त्वमार्गणा के अनुवाद से जीवों के अस्तित्व के प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं –

सम्यक्त्वमार्गणा के अनुवाद से सम्यग्दृष्टि-क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं।

जिसप्रकार आम्रवन के भीतर रहनेवाले नीम के वृक्षों को आम्रवन यह संज्ञा प्राप्त हो जाती है, उसीप्रकार मिथ्यात्व आदि को सम्यक्त्व यह संज्ञा देना उचित ही है। शेष कथन सुगम है। कहा भी है –

जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नव पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं॥212॥

दर्शनमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है; जो नित्य है और कर्मों के क्षपण का कारण है।

श्रद्धान को भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओं से अथवा इन्द्रियों को भय उत्पन्न करनेवाले आकारों से या वीभत्स अर्थात् निन्दित पदार्थों के देखने से उत्पन्न हुई ग्लानि से, किंबहुना तीन लोक से भी वह क्षायिक सम्यग्दर्शन चलायमान नहीं होता है॥२१४॥

सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल, मलिन और अगाढ़रूप श्रद्धान होता है, उसको वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं – *ऐसा हे शिष्य ! तू समझ।*

दर्शनमोहनीय के उपशम से कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के समान पदार्थों का, जो निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशम-सम्यग्दर्शन है॥२१६॥

अब सामान्य सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन के गुणस्थानों के निरूपण करने के लिये सूत्र कहते हैं –

सामान्य से सम्यग्दृष्टि और विशेष की अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं॥१४५॥

*१७. (1) **शंका** : सम्यक्त्व में रहनेवाली वह सामान्य वस्तु क्या है ?*

***समाधान** – तीनों ही सम्यग्दर्शनों में जो साधारण धर्म है, वह सामान्य शब्द से यहाँ पर विवक्षित है।*

*१८. (2) **शंका** : क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनों के परस्पर भिन्न-भिन्न होने पर सदृशता क्या वस्तु हो सकती है?*

समाधान** : नहीं; क्योंकि **उन तीनों सम्यग्दर्शन में यथार्थ श्रद्धान के प्रति समानता पाई जाती है।

*१९. (3) **शंका** : क्षय, क्षयोपशम और उपशम विशेषण से युक्त यथार्थ श्रद्धानों में समानता कैसे हो सकती है?*

समाधान : विशेषणों में भेद भले ही रहा आवे, परन्तु इससे यथार्थ श्रद्धारूप विशेष्य में भेद नहीं पड़ता है।

शेष सूत्र का अर्थ सुगम है।

अब वेदकसम्यग्दर्शन के गुणस्थानों की संख्या के प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं –

वेदकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं॥146॥

*२०. (4) **शंका** : ऊपर के आठवें आदि गुणस्थानों में वेदकसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है?*

समाधान – नहीं होता; क्योंकि, अगाढ़ आदि मलसहित श्रद्धान के साथ क्षपक और उपशम श्रेणी का चढ़ना नहीं बनता है।

२१. (5) शंका : वेदकसम्यग्दर्शन से औपशमिक सम्यग्दर्शन की अधिकता अर्थात् विशेषता कैसे संभव है?

समाधान : नहीं; क्योंकि, दर्शनमोहनीय के उदय से उत्पन्न हुई शिथिलता आदि औपशमिक सम्यग्दर्शन में नहीं पाई जाती है, इसलिये वेदकसम्यग्दर्शन से औपशमिक सम्यग्दर्शन में विशेषता सिद्ध हो जाती है।

२२. (6) शंका : क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को वेदक सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है?

समाधान – दर्शनमोहनीय कर्म (सम्यक् प्रकृति) के उदय का वेदन करनेवाले जीव को वेदक कहते हैं। उसके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदकसम्यग्दर्शन कहते हैं।

२३. (7) शंका : जिनके दर्शनमोहनीय कर्म का उदय विद्यमान है उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जा सकता है?

समाधान : नहीं; क्योंकि, दर्शनमोहनीय की देशघाति प्रकृति के उदय रहने पर भी जीव के स्वभावरूप श्रद्धान की एकदेश की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं आता है।

२४. (8) शंका : दर्शनमोहनीय की देशघाति प्रकृति को सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे दी गई?

समाधान : नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन के साथ सहचर संबंध होने के कारण उसको सम्यग्दर्शन संज्ञा के देने में कोई विरोध नहीं आता है।

अब औपशमिक सम्यग्दर्शन के गुणस्थानों के प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं –

उपशमसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर

उपशान्त-कषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं॥१४७॥[1]

इसी विषय को और भी अधिक स्पष्ट समझने-समझाने का प्रयास करते हैं –

२५. **प्रश्न :** औपशमिक सम्यक्त्व तो मात्र अन्तर्मुहूर्त काल रहकर नियम से छूट ही जाता है तो उस औपशमिक सम्यक्त्व को अपूर्ण ही कहना चाहिए। आप उसे भी पूर्ण कहते हो, यह समझ में नहीं आता, इसलिए कृपया इसे स्पष्ट करें?

उत्तर : आप को शंका होना स्वाभाविक है। समाधान के लिए हमें आगम ही शरण/आधार है और युक्ति का अवलंबन भी आवश्यक है।

औपशमिक सम्यक्त्व एक अंतर्मुहूर्त ही रहता है, इसलिए उसे अपूर्ण कहने की अपेक्षा नहीं है। यहाँ काल की कुछ अपेक्षा नहीं है। सम्यक्त्व को यहाँ भाव की अपेक्षा से ही पूर्ण कहा है।

श्रद्धा गुण का जो सम्यक्त्वरूप (सम्यग्दर्शन) परिणमन होता है (भले वह औपशमिकादि तीनों में से कोई भी हो) उसके निमित्त से **कर्मों की ४१ प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति (नये कर्मों के बन्ध का अभाव) होती है, वह तीनों सम्यक्त्व में समानरूप से ही होता है। इस कारण से भी तीनों सम्यक्त्व में समानता रहती है।**

(२) तत्त्वार्थों का यथार्थ स्वीकार, सच्ची प्रतीति, सत्य अभिप्राय, सत्य का विश्वास, तत्त्वों की रुचि को ही सम्यक्त्व कहते हैं। यह कार्य तीनों सम्यक्त्व में बराबर रहता है। अत: औपशमिक सम्यक्त्व भी पूर्ण ही है।

(३) औपशमिक सम्यग्दर्शन का धारक जीव संयमासंयमी होता है, संयमी भी बन जाता है, इतना ही नहीं द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि मुनिराज को ग्याहरवें गुणस्थान की प्राप्ति भी होती है। उसे शुद्धोपयोग भी होता ही

१. धवला पुस्तक-१, पृष्ठ ३९७ से ४००

रहता है। उपर्युक्त कारणों से औपशमिक सम्यक्त्व पूर्ण ही है, अपूर्ण नहीं।

आत्मा में अनंत गुण हैं। उनमें प्रत्येक गुण का कार्य/स्वरूप/लक्षण नियम से भिन्न-भिन्न ही रहता है।

ज्ञान गुण के द्वारा निर्णीत वस्तु का विश्वास/प्रतीति करना, श्रद्धान करना, भरोसा करना श्रद्धा का कार्यक्षेत्र है।

श्रद्धा गुण का काम वस्तु-स्वरूप का निर्णय करना, निश्चय करना, हेय-उपादेय का विचार करना आदि कार्य नहीं है – यह कार्य तो मात्र ज्ञान का है।

ज्ञान, जिस वस्तु को कल्याणदायक, सुखदाता, आत्म हितकारकरूप निर्णय करता है; उसको मात्र स्वीकारना, श्रद्धा गुण का कार्य है; अन्य कुछ काम नहीं।

वास्तविकरूप से सोचा जाये तो मिथ्यात्वरूप परिणाम के लिए श्रद्धेयरूप वस्तु भी ज्ञान द्वारा ही दिया जाता है। **अनादि से ज्ञान ही मिथ्यात्व का पोषक एवं शोषक है।**

मिथ्यात्व अवस्था में भी जीव को मिथ्या श्रद्धेय विषय तो एक ही रहता है। श्रद्धा का विषय तो हमेशा समान्य ही रहता है। अज्ञानी अपने अज्ञान से अपने श्रद्धेय विषय को बार-बार बदलता तो रहता है; तथापि जब भी जिस किसी भी वस्तु का श्रद्धान करता है तब विषय संख्या में एक ही एक रहेगा, यह निश्चित है। एक काल में अनेक वस्तुओं का श्रद्धान करना बनता ही नहीं।

ज्ञान गुण का कार्य/स्वरूप ही अलग है – ज्ञान जानेगा तो हमेशा अनेकों को जानेगा। ज्ञान का ज्ञेय एक विषय/पदार्थ बने, ऐसा कभी नहीं हो सकता। ज्ञान जानेगा तो अनेकों को जानेगा। हिताहित का विचार करेगा, निर्णय करेगा – जानता ही रहेगा।

जानने में ज्ञान को अर्थात् जीव को कभी भी भार/थकान नहीं

आती। थकान तो कषाय के कार्यों से होती है। ज्ञान तो जीव का अनुजीवी गुण है और जीव का मात्र जानना स्वाभाविक कार्य है – स्वभाव है। स्वभाव में थकान कैसे ? थकान तो विभाव में होना स्वाभाविक है। जिससे थकावट आती है, कष्ट का अनुभव होता है वह कभी स्वभाव नहीं हो सकता।

जीव निरन्तर जानने का काम तो कर सकता है; तथापि एक भी कषाय-नोकषायरूप परिणमन को सतत् करते रहना किसी भी जीव को असंभव है। कषाय-नोकषायरूप परिणामों को करते हुए मोहरूप से परिणत होते रहना, यह अपराध तो अज्ञानी अनादि से ही करता आ रहा है; तथापि किसी भी एक कषाय-नोकषायरूप विकारी भाव को अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक काल पर्यंत कर ही नहीं सकता। कोई जीव आधे घंटे तक क्रोधादि मात्र एक कषाय अथवा एक ही नोकषायरूप परिणाम नहीं कर सकता।

इष्ट-अनिष्टरूप कल्पना करना भी राग मिश्रित ज्ञान का कार्य है।

श्रद्धेय वस्तु में मग्न होना, लीन हो जाना – यह चारित्र का कार्य है।

श्रद्धा की सम्यक्त्वरूप पर्याय को किसी भी विशेषण से कहा जाये तो भी सम्यक्त्व अपनी उत्पत्ति के समय से ही अपने ही स्वभाव से वह पूर्ण ही रहता है। **सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की पर्यायों के समान सम्यक्त्व कभी हीन अथवा अधिक होता ही नहीं, वह हमेशा पूर्ण ही रहता है; यह स्वीकारना यथार्थ है।**

२६. प्रश्न : क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चल, मल, अगाढ़ दोष भी लगते हैं। अत: ऐसी स्थिति में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो नियम से अपूर्ण ही होना चाहिए तथापि आप उसे भी पूर्ण ही कहते हो, यह कैसे ?

उत्तर : चल, मल, अगाढ़ ये तीनों दोष तो सम्यक्प्रकृति दर्शनमोहनीय कर्म के निमित्त से उत्पन्न होने की बात शास्त्र में आयी है, जो सत्य ही है।

हम सूक्ष्मता से विचार करते हैं तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के दोष

तो तारतम्यस्वरूप से मात्र केवलीगम्य है। हमें-आपको विचार करने पर यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि ये तीनों दोष ज्ञान तथा चारित्र के परिणामरूप है। **ज्ञान तथा चारित्र के दोषों को उपचार से श्रद्धा के दोष कहे गये हैं। इसलिए इन दोषों से क्षायोपशमिक सम्यक्त्वरूप धर्म दूषित तथा प्रभावित नहीं होता।**

चलादि दोषों से यदि सम्यक्त्व दूषित हो जाता तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीव को निर्जरा होने का कथन शास्त्र में नहीं आता। शास्त्र में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को कर्म-निर्जरा का कारण कहा है। देशविरत नामक पंचम गुणस्थान की तथा छठवें-सातवें गुणस्थानरूप भावलिंग स्वरूप मुनि-जीवन की प्राप्ति भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी करता है।

इसका अर्थ यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी औपशमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्व के समान यथार्थ प्रतीति/श्रद्धान करने में पूर्ण समर्थ है। अत: यह सम्यक्त्व उत्पत्ति के समय से ही पूर्णरूप से ही प्रगट रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव यथायोग्य काल का अंतराल व्यतीत होने के बाद शुद्धोपयोगरूप महान पुरुषार्थ भी करता है। यदि ये जीव शुद्धोपयोग नहीं करते तो उन्हें पाँचवाँ एवं सातवाँ गुणस्थान कैसे होता ?

इन कारणों से मात्र चलादि दोषों के कारण से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को अपूर्ण मानना उचित नहीं है, शास्त्रसम्मत भी नहीं है।

इस विषय को शास्त्राधार से समझने के लिए मोक्षमार्ग-प्रकाशक के पृष्ठ ३३४-३३५ का अंश उपयोगी है –

"तथा जहाँ दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों में सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो, अन्य दो का उदय न हो, वहाँ क्षयोपशमसम्यक्त्व होता है। उपशमसम्यक्त्व का काल पूर्ण होने पर यह सम्यक्त्व होता है व सादिमिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्वगुणस्थान से व मिश्रगुणस्थान से भी इसकी प्राप्ति होती है।

क्षयोपशम क्या ? सो कहते हैं – दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों में जो

मिथ्यात्व का अनुभाग है, उसके अनन्तवें भाग मिश्रमोहनीय का है, उसके अनन्तवें भाग सम्यक्त्वमोहनीय का है।

इनमें सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति देशघाती है; इसका उदय होने पर भी सम्यक्त्व का घात नहीं होता। किंचित् मलिनता करे, मूलघात न कर सके, उसी का नाम देशघाती है।

सो जहाँ मिथ्यात्व व मिश्रमिथ्यात्व के वर्तमान काल में उदय आने योग्य निषेकों का उदय हुए बिना ही निर्जरा होती है वह तो क्षय जानना और इन्हीं के आगामीकाल में उदय आने योग्य निषेकों की सत्ता पायी जाये वही उपशम है और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय पाया जाता है, ऐसी दशा जहाँ हो, सो क्षयोपशम है; इसलिए समलतत्त्वार्थनश्रद्धान हो, वह क्षयोपशमसम्यक्त्व है।

यहाँ जो मल लगता है, उसको तारतम्यस्वरूप तो केवली जानते हैं; उदाहरण बतलाने के अर्थ चल, मलिन, अगाढ़पना कहा है।

वहाँ व्यवहारमात्र देवादिक की प्रतीति तो हो, परन्तु अरहन्तदेव में – यह मेरा है, यह अन्य का है, इत्यादि भाव सो **चलपना** है।

शंकादि मल लगे तो **मलिनपना** है।

यह शान्तिनाथ शांतिकर्ता हैं, इत्यादि भाव, सो **अगाढ़पना** है। ऐसे *उदाहरण व्यवहारमात्र बतलाये; परन्तु नियमरूप नहीं है।*

क्षयोपशम सम्यक्त्व में जो नियमरूप कोई मल लगता है, सो केवली जानते हैं। इतना जानना कि इसके तत्त्वार्थ श्रद्धान में किसी प्रकार से समलपना होता है, इसलिए यह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। इस क्षयोपशमसम्यक्त्व का एक ही प्रकार है, इसमें कुछ भेद नहीं है।

इतना विशेष है कि क्षायिकसम्यक्त्व के सन्मुख होने पर अन्तर्मुहूर्त काल मात्र जहाँ मिथ्यात्व की प्रकृति का क्षय करता है, वहाँ दो ही प्रकृतियों की सत्ता रहती है। पश्चात् मिश्रमोहनीय का भी क्षय करता है, वहाँ सम्यक्त्वमोहनीय की ही सत्ता रहती है। पश्चात् सम्यक्त्वमोहनीय

की काण्डकघातादि क्रिया नहीं करता, वहाँ कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि नाम पाता है – ऐसा जानना।

तथा इस क्षयोपशमसम्यक्त्व ही का नाम वेदकसम्यक्त्व है।

जहाँ मिथ्यात्व-मिश्रमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये, वहाँ क्षयोपशम नाम पाता है।

सम्यक्त्वमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये, वहाँ वेदक नाम पाता है। सो कथनमात्र दो नाम हैं, स्वरूप में भेद नहीं है। तथा वह क्षयोपशमसम्यक्त्व चतुर्थादि सप्तमगुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।

इसप्रकार क्षयोपशमसम्यक्त्व का स्वरूप कहा।''[१]

जैसे महासागर के विशाल/विपुल जल-समूह में विष का एक बिन्दु गिर जाये तो विष के बाधकपने का असर कुछ कार्यकारी नहीं होता; वैसे सम्यक्त्वप्रकृति के निमित्त से उत्पन्न मलादि दोष सम्यक्त्वरूपी समुद्र में कुछ कार्यकारी नहीं होते।

शास्त्र में जो विषय जैसा कहा गया है, उसे वैसा ही मानना चाहिए। हम सब जगह तर्क-वितर्क नहीं कर सकते, इसी दृष्टि से जिनागम में करणानुयोग को **'अहेतुवाद'** आगम भी कहा है।

वस्तुतः चारों अनुयोगों में मात्र द्रव्यानुयोग में ही हम तर्क के आधार से निर्णय करने का प्रयास कर सकते हैं। शेष तीनों अनुयोगों के कथन को आज्ञा-प्रमाण से ही मानना अनिवार्य होता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

जीव के श्रद्धा गुण का मिथ्यात्वरूप परिणमन अनादिकाल से ही चल रहा है। यह मिथ्यादृष्टि जीव जब जिनवाणी को पढ़कर या आत्मज्ञानी की देशना सुनकर वस्तुस्वरूप समझता है। उस काल में जिनवाणी के अध्ययन से मिथ्यादृष्टि को सम्पूर्ण सत्यस्वरूप समझ (सविकल्प ज्ञान) में आता है और विशुद्धता बढ़ती है, जिसका निमित्त पाकर पहले तो मिथ्यात्व परिणाम में मन्दता आती है।

---

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३४, ३३५

मन्दता आते-आते मिथ्यात्व कर्म शिथिल होता है, उसकी स्थिति कम होती जाती है, अनुभाग भी हीन-हीन होता जाता है और उसके उपशम होने के काल में शुद्धात्मा के ध्यान से श्रद्धा गुण की पर्याय स्वयमेव सम्यक्त्वरूप परिणमन करती है।

उसीसमय ज्ञान गुण के परिणमन में अपने-आप सम्यक्पना आ जाता है एवं जो चारित्र गुण पहले मिथ्या- चारित्ररूप परिणमन कर रहा था, वह सम्यक्चारित्ररूप परिणमित हो जाता है।

श्रद्धादि तीनों गुणों के सम्यक् परिणमन में सर्वप्रथम श्रद्धा गुण के परिणमन में पूर्णता होती है। चारित्रगुण की पूर्णता (भाव चारित्र) बारहवें गुणस्थान में होती है।

तदनन्तर ज्ञानगुण के परिणमन में (केवलज्ञानरूप) पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है। अन्त में सिद्धावस्था में द्रव्यचारित्र की पूर्णता होती है।

वास्तविकरूप से देखा जाय तो श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण का सम्यक्परिणमनरूप कार्य एकसाथ ही प्रगट होता है। ऐसा नहीं है कि श्रद्धा गुण का परिणमन तो सम्यक्रूप हो गया और ज्ञान एवं चारित्र गुण के परिणमन में सम्यक्पना आया ही नहीं अथवा कुछ काल व्यतीत होने पर ज्ञान और चारित्र गुण के परिणमन में सम्यक्पना आया; अपितु श्रद्धादि तीनों गुणों के परिणमन में सम्यक्पना एकसाथ अर्थात् एक समय में ही आता है।

इतना ही नहीं जब-जब श्रद्धा में सम्यक्पना आता है, तब-तब श्रद्धा का सम्यक्पना पूर्ण ही होता है, अधूरा नहीं होता। श्रद्धा के सम्यक् परिणमन को कर्म के निमित्त से औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक नाम प्राप्त हो तो भी सम्यक्पने में कुछ भी अन्तर नहीं होता है, वह सम्यक् परिणमन तो पूर्णरूप ही होता है।

श्रद्धा गुण के सम्यक् परिणमन में क्रम से विकास होते हुए वह सम्यक्त्व धीरे-धीरे पूर्ण हो – ऐसा स्वरूप या व्यवस्था ही नहीं है। जब

किसी भी जीव के किसी भी गति में श्रद्धा गुण का सम्यक्रूप परिणमन होता है, तब वह पूर्ण ही होता है।

सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो श्रद्धा गुण में सम्यक्पना आते ही जीवद्रव्य के सर्व गुणों में सम्यक्पना आने का नियम है। इसीलिए आगम में **सर्व गुणांश ते सम्यक्त्व** ऐसा ज्ञानियों का प्रचलित वचन भी प्रसिद्ध है।

अतः हमें यह समझ लेना चाहिए कि श्रद्धा के सम्यक्पने की उत्पत्ति के काल में ही अनन्त गुणों में भी सम्यक्पना सहज ही आ जाता है। **श्रद्धा के सम्यक्पने की उत्पत्ति और उसकी पूर्णता भी एकसाथ ही होती है।**

औपशमिकादि तीनों सम्यक्त्व के संबंध में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी के अति महत्त्वपूर्ण विचार हम आगे दे रहे हैं –

"जैसी शुद्धात्मा की प्रतीति सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व में हैं, चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि को भी वैसी ही शुद्धात्मा की प्रतीति है, उसमें कुछ भी फर्क नहीं।

सिद्ध भगवान का सम्यक्त्व प्रत्यक्ष व चौथे गुणस्थानवाले का सम्यक्त्व परोक्ष – ऐसा भेद नहीं है; अथवा स्वानुभव के समय सम्यक्त्व प्रत्यक्ष और बाहर में शुभाशुभ उपयोग के समय सम्यक्त्व परोक्ष – ऐसा भी नहीं है।

चाहे शुभाशुभ में प्रवर्तता हो या स्वानुभव के द्वारा शुद्धोपयोग में प्रवर्तता हो, सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व तो सामान्य वैसा का वैसा है; **अर्थात् शुभाशुभ के समय सम्यक्त्व में कोई मलिनता आ गई और स्वानुभव के समय सम्यक्त्व में कोई निर्मलता बढ़ गई – ऐसा नहीं है।**[१]

क्षायिकसम्यक्त्व तो सर्वथा निर्मल है; औपशमिक सम्यक्त्व भी वर्तमान में तो क्षायिक जैसा निर्मल है, परन्तु उस जीव की (निखरे हुए कादववाले पानी की तरह) मूलसत्ता में से मिथ्यात्व की प्रकृत्ति का अभी नाश नहीं हुआ।

---

१. अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ-७२-७३

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सम्यक्त्व को बाधा न पहुँचावे – ऐसा सम्यक्-मोहनीय प्रकृति संबंधी विकार है।

ये तीनों प्रकार के सम्यक्त्व में शुद्धात्मा की प्रतीति समान वर्तती है। प्रतीति की अपेक्षा से तो सम्यग्दृष्टि को सिद्धसमान कहा है।

२७. प्रश्न – चौथे गुणस्थान में जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि है, उसकी तो प्रतीति सिद्धभगवान जैसी भले हो; परन्तु चौथे गुणस्थानवर्ती उपशम व क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव की भी प्रतीति क्या सिद्ध भगवान जैसी होती है?

उत्तर – हाँ, उपशम/(क्षयोपशम) सम्यग्दृष्टि की प्रतीति में जो शुद्धात्मा आया है, वह भी वैसा ही है जैसा कि सिद्ध भगवान की प्रतीति में आया है। शुद्धात्मा की प्रतीति तीनों ही प्रकार के सम्यक्त्वी जीवों की समान है, इसमें कोई अन्तर नहीं।"[१]

श्रद्धादि तीनों गुणों के परिणमन में सम्यक्ता की पूर्णता होने पर ही आत्मा परद्रव्य से सर्वथा मुक्त होकर पूर्ण विशुद्ध होता है, अत: यह सम्यग्दर्शनादि तीनों मिलकर मोक्ष के साधन-उपाय माने गये हैं।

इनमें से किसी एक भी साधन के अपूर्ण रहने पर परिपूर्ण मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि साधनों की अपूर्णता ही विवक्षाभेद से साध्य की अपूर्णता है।

२८. प्रश्न – सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की पूर्णता का कथन गुणस्थान की मुख्यता से कीजिए, ताकि हमें समझने में अधिक सुलभता हो।

उत्तर – सम्यग्दर्शन की पूर्णता चौथे गुणस्थान में होती है। चारित्र गुण की पूर्णता (भाव चारित्र) बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होती है। सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होती है और द्रव्यचारित्र की पूर्णता सिद्धावस्था के प्रथम समय में होती है।

---

१. अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ-७५

२९. प्रश्न – हमने तो शास्त्र में पढ़ा है कि किसी-किसी को सम्यक्त्व देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान में उत्पन्न होता है, किसी द्रव्यलिंगी मुनिराज को सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान में भी प्रगट होता है और आप लिख रहे हैं कि सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में पूर्णरूप से प्रगट होता है; हम क्या समझें?

उत्तर – कुछ विशिष्ट अपेक्षा से आपका कथन यथार्थ है। उसका विशेष स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

१. कोई अनादि या सादि मिथ्यादृष्टि मनुष्य, द्रव्यलिंगी देशव्रती श्रावक अर्थात् सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि मनुष्य को किसी बाह्य कारणवश वैराग्य भाव होने से शास्त्र के अनुसार अणुव्रतादि का स्वीकार हुआ हो, उसे मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधे ही देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

अर्थात् सम्यक्त्व एवं देशविरत नामक पंचम गुणस्थान की निर्मलता/वीतरागता एक समय में ही मिथ्यात्व एवं दो कषाय चौकड़ी के अभाव से होती है, तब उस जीव को सम्यक्त्व पाँचवें गुणस्थान में हुआ – ऐसा समझना चाहिए। इस जीव की अपेक्षा सम्यक्त्व पंचम गुणस्थान में पूर्ण हुआ, ऐसा कथन यथार्थ है।

२. जो मनुष्य अगृहीत मिथ्यात्व नष्ट हुए बिना अर्थात् सम्यक्त्व के बिना ही वैराग्य परिणाम की तीव्रता से आगम में वर्णित मुनिराज के २८ मूलगुणों को स्वीकार कर चरणानुयोग के अनुसार निर्दोषरूप से उनका पालन करता है, वह मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनि है।

अथवा छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिराज का अपनी पुरुषार्थ हीनता एवं मिथ्यात्व कर्म का उदय – इन दोनों के निमित्त से मिथ्यात्व गुणस्थान में पतन हुआ हो तो उसे भी प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज कहते हैं। (चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती भी जीव, द्रव्य-लिंगी होते हैं)।

ये द्रव्यलिंगी मुनिराज वंदनीय एवं पूजनीय ही होते हैं। (देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय सातवाँ पृष्ठ २४५, २४७-२४८) उन मुनिराज को मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधा सातवाँ अप्रमत्तविरत गुणस्थान भी प्राप्त होता है। इन्हें सम्यक्त्व की पूर्ण निर्मलता तथा अप्रमत्तविरत गुणस्थान योग्य चारित्र की प्राप्ति सातवें गुणस्थान में हो जाती है – ऐसा कथन शास्त्रानुसार है।

३०. प्रश्न – सम्यक्त्व के आठ मद आदि २५ दोष बताये हैं, आप बता रहे हो सम्यक्त्व हमेशा पूर्ण ही होता, अधूरा नहीं होता - हम इस प्रकरण में क्या समझें?

उत्तर – सम्यक्त्व तो हमेशा पूर्ण ही होता है, वह कभी अपूर्ण नहीं होता। वास्तविक देखा जाय तो श्रद्धा गुण के परिणमन का स्वभाव ही ऐसा है कि श्रद्धा गुण या तो मिथ्यात्वरूप परिणमन करेगा अथवा सम्यक्त्वरूप परिणमेगा। श्रद्धा गुण का परिणमन इन दो (मिथ्यात्व वा सम्यक्त्व) पर्यायों को छोड़कर अन्य पर्यायरूप होता ही नहीं है।

वास्तविकता से विचार किया जाय तो मद आदि दोष चारित्र गुण के विभाव परिणामरूप हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि चारित्र के मद आदि दोषों को सम्यक्त्व के दोष कहना, यह व्यवहार कथन है।

अर्थात् चारित्र के विभाव पर्यायों का आरोप सम्यक्त्व पर किया गया है, अतः यह आरोपित कथन है। इसलिए ये २५ दोष सम्यक्त्व के कहना मात्र व्यवहारनय का कथन है, इस अपेक्षा से ही उन्हें मानना योग्य है।

दूसरा यह भी जानना आवश्यक है कि व्यवहार सम्यक्त्व भी चारित्र गुण की विभाव पर्याय है; क्योंकि देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करना यह प्रशस्त रागरूप परिणाम है। रागरूप परिणाम चारित्रगुण की विभाव पर्याय है।

निज शुद्धात्मा की प्रतीति करना, यह श्रद्धा गुण की सम्यक्त्वरूप शुद्ध पर्याय है अर्थात् स्वभावपर्याय है और निज शुद्धात्मा का श्रद्धान न

करना श्रद्धा गुण का विभाव परिणमन अर्थात् मिथ्यात्वरूप विभावपर्याय है। इसलिए मदादि २५ दोष व्यवहारनय से ही सम्यक्त्व के दोष कहे गये हैं।

सम्यग्दर्शन के निःशंकित-निःकांक्षित आदि गुणों के विपरीत शंका-कांक्षा व भय-इच्छा आदि चारित्रगुण के विभाव परिणाम हैं; यह विषय अत्यन्त स्पष्ट है।

समयसार के निर्जरा अधिकार में सम्यग्दर्शन के आठों अंगों का वर्णन मूल गाथा, संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद एवं भावार्थ को देखने से भी निःशंकितादि परिणाम चारित्र गुण के पर्यायरूप ही हैं, यह विषय स्पष्ट होता है। जिज्ञासु जन इस प्रकरण को अवश्य देखें।

तीन मूढ़तारूप परिणाम तो ज्ञान का विपरीत परिणमन है, उसका आरोप सम्यग्दर्शनरूप पर्याय पर करके व्यवहार से सम्यक्त्व को दोषरूप बताया गया हैं। इसीतरह षड्-अनायतन को भी समझ लेना चाहिए।

३१. प्रश्न – सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और उसकी पूर्णता साथ-साथ ही होती है – ऐसा आप पुनः-पुनः बता रहे हैं; अतः हमें यह शंका हो रही है कि तेरहवें गुणस्थान में सम्यक्त्व को परमावगाढ़ सम्यक्त्व नाम प्राप्त होता है, जो कि शास्त्राधार से प्रमाण है, तब आपके विचारानुसार क्या चौथे गुणस्थान में ही परमावगाढ़ सम्यक्त्व होता है? कृपया स्पष्ट कीजिए।

उत्तर – नहीं, चौथे गुणस्थान में परमावगाढ़ सम्यक्त्व नहीं होता। वस्तुतः देखा जाए तो सम्यक्त्व को परमावगाढ़ यह नाम सहचारी केवलज्ञान के निमित्त से प्राप्त हुआ सापेक्ष नाम है।

सहचर ज्ञान गुण की केवलज्ञानादि विशेष पर्यायों से सम्यक्त्व को परमावगाढ़ विशेषण प्राप्त होता है।

यहाँ इस प्रकरण में हमें मात्र श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुण के सीधे परिणमन की अर्थात् अन्य गुणों से निरपेक्ष पर्याय का विवेचन करने की

हमारी भावना है। सहचर गुणों के पर्यायों से सापेक्ष पर्यायों की चर्चा विवक्षित नहीं है।

अनुभवप्रकाश ग्रंथ में पण्डित श्री दीपचंदजी कासलीवाल ने मिश्रधर्म नामक एक छोटासा स्वतंत्र अधिकार लिखा है, वहाँ ऐसा ही प्रश्न उपस्थित किया है, जो निम्नप्रकार है –

३२. **''यहाँ कोई प्रश्न करे कि** – क्षायिकसम्यग्दृष्टि को सम्यक्गुण सर्वथा पूर्ण हुआ है या नहीं? उसका समाधान कहो।

यदि ऐसा कहोगे कि सर्वथा हुआ है तो (उसे) सिद्ध कहो। काहे से? कि – एक गुण सर्वथा विमल होने से सर्व (गुण) शुद्ध होते हैं। सम्यक्गुण सर्व गुणों में फैला है, (इससे) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सर्वगुण सम्यक् हुए। (परन्तु) सर्वथा सम्यग्ज्ञान नहीं है, एकदेश सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा सम्यग्ज्ञान हो तो सर्वथा सम्यक्गुण शुद्ध हो, इसलिए सर्वथा नहीं कहा जाता।

(तथा) यदि किंचित् सम्यक्गुण शुद्ध कहें तो सम्यक्त्वगुण का घातक जो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी कर्म था वह तो नहीं रहा; जिस गुण का आवरण जाए वह गुण (सर्वथा) शुद्ध होता है, इसलिए (सम्यक्गुण) किंचित् (शुद्ध) भी नहीं बनता।

३३. **तो किसप्रकार है ? उसका समाधान किया जाता है** – वह आवरण तो गया तथापि सर्वगुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए हैं। आवरण जाने से सर्वगुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए इसलिए परम सम्यक् नहीं हैं। सर्वगुण साक्षात् सर्वथा शुद्ध सम्यक् हों, तब 'परम सम्यक्' ऐसा नाम होता है। **विवक्षाप्रमाण से कथन प्रमाण है।**

उस दर्शनमोहनीय की पौद्गलिक स्थिति जब नष्ट हुयी, तभी इस जीव का जो मिथ्यात्वरूप परिणाम था, वह सम्यक्त्व गुण सम्पूर्ण

स्वभावरूप होकर परिणमा-प्रकट हुआ। चेतन-अचेतन की भिन्न प्रतीति से वह सम्यक्त्वगुण निजजातिस्वरूप होकर परिणमा।"[१]

इस मिश्रधर्म विषय पर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने भी विशेष प्रवचन किए हैं, जो **'अनुभवप्रकाश प्रवचन'** नाम से प्रकाशित हैं। जिज्ञासु पाठक उन्हें अवश्य देखें।

क्षायिक सम्यक्त्व की पूर्णता-अपूर्णता को विषय बनाकर जो खुलासा स्वामीजी ने किया है उसका महत्वपूर्ण अंश इसप्रकार है –

३४. प्रश्न :– क्षायिक सम्यग्दर्शन के काल में श्रद्धा गुण की क्षायिक पर्याय पूर्ण शुद्ध है या नहीं ? यदि वह पूर्ण शुद्ध है तो उसे सिद्ध कहना चाहिए; क्योंकि एक गुण सभी गुणों में व्यापक है, इस अपेक्षा से क्षायिक सम्यक्त्वी के मिश्रपना सिद्ध नहीं होता तथा यदि उसे किंचित् शुद्ध कहें तो सम्यक्त्व गुण का घातक मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कर्म उसके होना चाहिए; किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कर्म का निमित्त तो होता नहीं, अतः उसका सम्यक्गुण पूर्ण शुद्ध है या अपूर्ण?

समाधान :– इसका स्पष्टीकरण यह है कि सम्यक्गुण वहाँ पूर्ण भी है और अपूर्ण भी है – यह विवक्षानुसार समझना पड़ेगा।

क्षायिक सम्यक्त्वी के मिथ्यात्वरूप आवरण तो नहीं है; परन्तु आवरण मात्र के जाने से सभी गुण सर्वथा सम्यक् नहीं होते, इसकारण अभी परम-सम्यक्पना नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व होने पर अन्य गुण तो परम-सम्यक् हैं ही नहीं; किन्तु जो क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट हुआ है, वह भी परम-सम्यक् (परमावगाढ़) नहीं है।

यद्यपि क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय में अशुद्धता या अपूर्णता नहीं रही; किन्तु अन्य गुण सर्वथा शुद्ध नहीं होने से क्षायिक को भी परम-

---

१. अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-८०

सम्यक्पना (परमावगाढ़) नहीं कहा जा सकता। जब सभी गुण साक्षात् सर्वथा शुद्ध/सम्यक्रूप हो जायें, तब परम (परमावगाढ़) सम्यक्त्व ऐसा नाम पाते हैं। इसप्रकार विवक्षा प्रमाण से कथन प्रमाण होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व के परमसम्यक्त्वपना (परमावगाढ़सम्यक्त्वपना) नहीं होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन में कोई मलिनता, अशुद्धता या कमी है – ऐसा नहीं; बल्कि क्षायिक सम्यग्दर्शन तो अपनी योग्यतानुसार निर्मल ही है तथा कोई ऐसा माने कि आगे के गुणस्थान होने पर वह विशेष निर्मल होता हो तो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि उसमें कोई अशुद्धता शेष ही नहीं है, जो शुद्धता बढ़े; परन्तु अन्य गुण पूर्ण शुद्ध नहीं हुए। इसीकारण वह परम (परमावगाढ़) सम्यक्त्व नाम नहीं पाता – ऐसा कहा है।

किसी को सम्यग्दर्शन होने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ही केवलज्ञान प्रकट होता है और किसी को सम्यग्दर्शन होने के लाखों-करोड़ों वर्षों तक भी पाँचवें गुणस्थान की दशा तक नहीं आती, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन होने मात्र से सभी गुण तत्काल शुद्ध नहीं होते। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखकर सम्यग्दृष्टि को शक्ति अनुसार तप-त्याग भाव होता है – ऐसा वीतराग का मार्ग है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन में किसी प्रकार का आवरण नहीं है; अतः वह पूर्ण निर्मल है, तथापि चारित्र पूर्ण निर्मल नहीं होने से परम (परमावगाढ़) सम्यक्त्वपना नहीं है।

धर्मी अपने परिणामों को देखकर प्रतिज्ञा लेता है; परन्तु हठपूर्वक प्रतिज्ञा लेना वीतराग का मार्ग नहीं है। सम्यग्दृष्टि समझता है कि मेरे परिणामों में शिथिलता है, राग है। अतः अन्तर में परिणामों की ऐसी दृढ़ता आये कि प्राण छूट जायें पर प्रतिज्ञा भंग न हो।

श्रद्धा गुण में क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर कोई कमी नहीं रही,

तथापि वहाँ सभी गुण पूर्ण निर्मल नहीं हुए हैं, अतः मिश्रधर्म है।

बारहवें गुणस्थान तक यही दशा रहती है, इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वहाँ धर्म की पूर्णता नहीं है। सम्यग्दर्शन तो पूर्ण है, परन्तु अन्य गुण पूर्ण निर्मल नहीं हुए हैं; अतः यहाँ मिश्रधर्म है।

आत्मा में उत्पन्न विभावभावों को ज्ञानी अपने कारण से होना मानता है और अज्ञानी वे विभावभाव निमित्त से होते हैं – ऐसा मानकर स्वच्छन्दी होता है, इसकारण उसके मिथ्यात्व का नाश नहीं होता। विभावभाव आत्मा में अपने कारण से उत्पन्न होते हैं – ऐसा मानकर कोई विभावभाव को ही अपना माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

विभावभाव पर्याय में अपने कारण से होते हैं, कर्म के कारण नहीं, परन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है – ऐसा मानते हुए ज्ञानी उनके नाश का पुरुषार्थ करता है।

पाण्डे राजमल्लजी कृत समयसार कलश टीका में कहा है कि – "जो जीव आत्मा में रागादिभाव कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं – ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अनन्त संसारी है।"

क्षायिक सम्यग्दृष्टि के भी रागादि परिणति चारित्र मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण नहीं है तथा चारित्र पूर्ण नहीं है; अतः सम्यक्त्व गुण में कोई कमी है – ऐसा भी नहीं। चेतन-अचेतन की भिन्न प्रतीति से सम्यक्त्व गुण स्वयं निज जातिरूप होकर परिणमा है अर्थात् मैं ज्ञायकमूर्ति चेतन आत्मा हूँ, मैं अचेतन नहीं – इसप्रकार ज्ञान स्वयं अपनी जातिरूप होकर परिणमा है।[१]

---

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा, पृष्ठ - ७६ से ७९

सम्यग्ज्ञान की पूर्णता

(अक्रम से)

इसके पहले सम्यक्त्वरूप पर्याय के प्रकरण में सम्यक्त्व की उत्पत्ति तथा उत्पत्ति के साथ ही उसकी पूर्णता को यथासंभव विस्तार के साथ समझ लिया है।

अब हमें ज्ञान गुण का विकास एवं उसकी पूर्णता को मुख्य बनाकर आगम के आलोक में उसे जानना है। **इतना तो निश्चित है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ ही ज्ञान भी नियम से सम्यक् होता है। तथापि सम्यक्त्व के निमित्त से ज्ञान का सम्यक् होना बात अलग है और ज्ञान गुण के पर्याय की पूर्णता (केवलज्ञान) होना अलग है।**

जैसे सम्यक्त्वरूप पर्याय, उत्पत्ति के समय से ही पूर्णरूप से प्रगट रहती है, वैसा ज्ञान के संबंध में नहीं है। **ज्ञान का सम्यक् होना, ज्ञान का विकास होते रहना एवं ज्ञान की पूर्णता होना – इन सबका स्वरूप अपने स्वभाव से भिन्न प्रकार का ही है।**

ज्ञान गुण की पूर्णता का कुछ भी खास नियम नहीं है।

- चौथे गुणस्थानवर्ती साधक को मात्र मति-श्रुत दो ही ज्ञान हो सकते हैं।
- चौथे गुणस्थान में मति-श्रुत-अवधि तीन ज्ञान भी होना शक्य है।
- किसी बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को मात्र मति-श्रुत-ज्ञान दो ही रह सकते हैं।
- किसी छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती को अथवा श्रेणी में आरूढ़ मुनिराज को मत्यादि तीन अथवा चार ज्ञान होना भी संभव है।
- **केवलज्ञान के पहले ज्ञान गुण के विकास का कुछ भी क्रम निश्चित नहीं है।**

- सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बाद ज्ञान की पूर्णता अर्थात केवलज्ञान की उत्पत्ति का कुछ नियम नहीं हैं।
- केवलज्ञानरूप ज्ञान की पूर्णता कुछ काल व्यतीत होने पर अथवा कुछ भव व्यतीत होने पर भी हो सकती है।
- इसका स्पष्ट भाव यह है कि **ज्ञान का सम्यक्पना और ज्ञान गुण की पूर्ण पर्याय प्रगट होना – इन दोनों में नियम से कालभेद है।**

आगे ज्ञान की पूर्णता एवं विकास के संबंध में ही प्रश्नोत्तररूप से कुछ क्रम से कथन करते हैं।

३५. प्रश्न – तेरहवें गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान की केवलज्ञानरूप (पूर्ण पर्याय) पूर्णता होने के बाद आगे चौदहवें गुणस्थान में उसमें क्या कुछ विशेष विकास होता है ?

उत्तर – नहीं, केवलज्ञानरूप ज्ञान की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में भी रहती है और सिद्ध अवस्था में भी अनन्त काल पर्यंत केवलज्ञान ही वर्तता है।

ज्ञान की पूर्णता होने के बाद उसमें विकास के लिए कोई अवकाश ही नहीं है और पूर्ण ज्ञान होने के बाद उसमें फिर अपूर्ण ज्ञानरूप से परिणमन होने का कुछ कारण भी नहीं है।

३६. प्रश्न : तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान का विकास केवलज्ञानरूप से पूर्ण होता है; ऐसा आपने कहा – हमें शंका यह होती है कि अनंत काल के भविष्य में केवलज्ञान में भी विकास होता ही रहना चाहिए। केवलज्ञानरूप पूर्ण विकास के बाद ज्ञान का विकास रुकता क्यों हैं ?

उत्तर : केवलज्ञानरूप विकास होने के बाद फिर ज्ञान के विकास के लिए अवकाश ही नहीं है; क्योंकि केवलज्ञान से सभी द्रव्यों, सभी (भूत-भावी एवं वर्तमान) पर्यायों को एक साथ (युगपत्) जानने के बाद पूर्ण विश्व में अज्ञात कोई वस्तु ही नहीं रहती तो ज्ञान में विकास क्यों और कैसे होगा ? इसीलिए केवलज्ञान होने के बाद अनंत काल

तक भविष्य में विकास के लिए नियम से अवकाश ही नहीं है- आवश्यकता भी नहीं है।

३७. प्रश्न : केवलज्ञानरूप स्वाभाविक शुद्ध पर्याय में भी षट्गुणहानि-वृद्धिरूप कार्य तो होता ही रहता है तो केवलज्ञानरूप पर्याय भी छोटी-बड़ी तो होती ही रहेगी, इसमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर : प्रत्येक अर्थपर्याय में षट्गुणहानिवृद्धिरूप कार्य तो नियम से होता ही रहता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है। इस कारण केवलज्ञानरूप पर्याय छोटी-बड़ी होती होगी, ऐसा स्वीकारना आगम को सम्मत नहीं हो सकता।

जैसे दो पाव दूध गरम करते समय उस दूध में उफान तो आयेगा ही। उफनते समय दूध बढ़ गया, ऐसा भ्रम तो हो सकता है; लेकिन दूध बढता नहीं, दूध उतना का उतना ही रहता है। उसी प्रकार केवलज्ञानरूप अर्थपर्याय में अविभाग प्रतिच्छेद घटते-बढ़ते हैं, तथापि केवलज्ञान में हानि-वृद्धि नहीं होती। यह तो स्थूल दृष्टान्त है। वास्तविक स्वरूप केवलज्ञानगम्य है।

इसीप्रकार मोक्षावस्था के प्रथम समय में चारित्र गुण के सम्यक् एवं पूर्ण परिणमन के बाद अनन्त काल पर्यंत वह यथावत् सम्यक् एवं पूर्ण ही रहता है।

३८. प्रश्न – केवलज्ञानरूप परिणमन के पहले होनेवाले ज्ञान गुण के विकास का क्या स्वरूप है ?

उत्तर – हमने तो पहले ही यह जान लिया है कि श्रद्धा गुण का सम्यक् परिणमन एवं उसकी पूर्णता एकसाथ ही होती है, उसमें क्रम नहीं है।

तथा ज्ञान गुण के सम्यक् परिणमन के बाद उसकी पूर्णता के पहले ज्ञान के विकास का स्वरूप कुछ अलग ही है। इसमें नियमरूप कुछ नहीं है।

- यदि किसी नारकी अथवा देव को सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो उनको सम्यग्दर्शन के साथ ही तीनों (कुमति, कुश्रुत, कुअवधि) ज्ञान नियम से सम्यक् ही हो जाते हैं।

- यदि मनुष्य अथवा तिर्यंच गति से सम्यक्त्व के साथ नरक, तिर्यंच वा देवगति में जीव उत्पन्न होता है तो भी ये तीनों ज्ञान सम्यक् ही रहते हैं।
- यदि मनुष्य या तिर्यंचगति में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो उनके मति-श्रुतज्ञान सम्यक्रूप परिणत हो जाते हैं।
- यदि मनुष्य या तिर्यंच संयमासंयमी हो तो कदाचित् उन्हें भी मति-श्रुत-अवधि तीनों ज्ञान सम्यक्रूप हो सकते हैं।
- यदि मनुष्य, मुनि बनकर चारित्र विकसित करते हैं तो उन्हें मति-श्रुत-अवधि के साथ मन:पर्यय ज्ञान तथा अंत में मात्र एक केवल-ज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है। पाँचों ज्ञान किसी भी जीव को कभी भी एक साथ नहीं रहते।

३९. प्रश्न – केवलज्ञान होने के पहले मति आदि चारों ज्ञान होना ही चाहिए – यह नियम है क्या ?

उत्तर – नहीं, केवलज्ञान होने के पहले तीन अथवा चार ज्ञान होने का कोई नियम नहीं है, मात्र अल्प मति-श्रुतज्ञान होने पर भी इन दोनों ज्ञान के अभावपूर्वक पूर्णज्ञान अर्थात् केवलज्ञान हो सकता है।

जैसे – शिवभूति आदि अनेक मुनिराज अत्यल्प मति-श्रुत-ज्ञान होने पर भी केवलज्ञानी हो गये हैं।

- केवलज्ञान की उत्पत्ति के लिए पूर्ण वीतराग होना अनिवार्य है; लेकिन अवधि-मन:पर्ययज्ञान की अनिवार्यता भी नहीं है और उनकी उपयोगिता भी नहीं है; क्योंकि ये दोनों ज्ञान मात्र पुद्गल को ही जानते हैं।

ज्ञान गुण के परिणमन का अपना कार्य स्वतंत्र है। उसके लिए पूर्ण वीतरागता चाहिए – यह भी व्यवहार सापेक्ष कथन है।

४०. प्रश्न – केवलज्ञान के लिए वीतरागता चाहिए – यह कथन व्यवहार सापेक्ष भी क्यों है ?

उत्तर – यदि पूर्ण वीतरागता को कारण और केवलज्ञान को कार्य – ऐसा दोनों में कारण-कार्य सम्बन्ध मान लिया जाय तो बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही पूर्ण वीतरागता होती है, तदनुसार उसीसमय केवलज्ञान की उत्पत्ति भी होनी ही चाहिए; किन्तु ऐसा नियम से नहीं होता।

इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए पंचास्तिकाय गाथा १५० एवं १५१ को टीका सहित हम यहाँ दे रहे हैं –

"हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो।।
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं।।

टीका – यह, द्रव्यकर्ममोक्ष[१] के हेतुभूत परम-संवररूप से भावमोक्ष के स्वरूप का कथन है।

आस्रव का हेतु वास्तव में जीव का मोहरागद्वेषरूप भाव है। ज्ञानी को उसका अभाव होता है। उसका अभाव होने से आस्रवभाव का अभाव होता है। आस्रवभाव का अभाव होने से कर्म का अभाव होता है।

कर्म का अभाव होने से सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता और अव्याबाध, इन्द्रियव्यापारातीत[२], अनन्त सुख होता है। सो यह जीवन्मुक्ति[३] नाम का भावमोक्ष है। 'किसप्रकार?' ऐसा प्रश्न किया जाए तो निम्नानुसार स्पष्टीकरण है :–

यहाँ जो 'भाव' विवक्षित[४] है वह कर्मावृत (कर्म से आवृत हुए) चैतन्य की क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रियारूप है। वह (क्रमानुसार प्रवर्तती

---

१. द्रव्यकर्ममोक्ष = द्रव्यकर्म का सर्वथा छूट जाना; द्रव्यमोक्ष। (यहाँ भावमोक्ष का स्वरूप द्रव्यमोक्ष के निमित्तभूत परम संवररूप से दर्शाया है।)
२. इन्द्रियव्यापारातीत = इन्द्रियव्यापार रहित।
३. जीवन्मुक्ति = जीवित रहते हुए मुक्ति; देह होने पर भी मुक्ति।
४. विवक्षित = जिसका कथन करना है।

ज्ञप्तिक्रियारूप भाव) वास्तव में संसारी को अनादि काल से मोहनीयकर्म के उदय का अनुसरण करती हुई परिणति के कारण अशुद्ध है, द्रव्यकर्मास्रव का हेतु है। परन्तु वह (क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रियारूप भाव) ज्ञानी को मोहरागद्वेषवाली परिणतिरूप से हानि को प्राप्त होता है; इसलिए उसे आस्रवभाव का निरोध होता है।

इसलिए जिसे आस्रवभाव का निरोध हुआ है, ऐसे उस ज्ञानी को मोहक्षय द्वारा अत्यन्त निर्विकारपना होने से, जिसे अनादि काल से अनन्त चैतन्य और (अनंत) वीर्य मुँद गया है।

ऐसा वह ज्ञानी (क्षीणमोह गुणस्थान में) शुद्ध ज्ञप्तिक्रियारूप से अंतर्मुहूर्त व्यतीत करके युगपत् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का क्षय होने से कथंचित् कूटस्थ[1] ज्ञान को प्राप्त करता है।

इसप्रकार उसे ज्ञप्तिक्रिया के रूप में क्रमप्रवृत्ति का अभाव होने से भावकर्म का विनाश होता है। इसलिए कर्म का अभाव होने पर वह वास्तव में भगवान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा इन्द्रियव्यापारातीत-अव्याबाध-अनंतसुखवाला सदैव रहता है।

इसप्रकार यह (जो यहाँ कहा है), भावकर्ममोक्ष[2] का प्रकार[3] तथा द्रव्यकर्ममोक्ष का हेतुभूत परम संवर का प्रकार है।''[4]

- अनेक बार चारों ज्ञान होने पर भी अर्थात् ज्ञान गुण के सम्यक् परिणमन का इतना विकास होने पर भी जीव को केवलज्ञान की उत्पत्ति के लिए यह विकास अनुपयोगी सिद्ध होता है।

१. कूटस्थ = सर्व काल एकरूप रहनेवाला; अचल। (ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का नाश होने पर ज्ञान कहीं सर्वथा अपरिणामी नहीं हो जाता; परन्तु वह अन्य-अन्य ज्ञेयों को जाननेरूप परिवर्तित नहीं होता – सर्वदा तीनों काल के समस्त ज्ञेयों को जानता रहता है, इसलिए उसे कथंचित् कूटस्थ कहा है।)

२. भावकर्ममोक्ष = भावकर्म का सर्वथा छूट जाना, भावमोक्ष। ज्ञप्तिक्रिया में क्रमप्रवृत्ति का अभाव होना वह भावमोक्ष है अथवा सर्वज्ञ-सर्वदर्शीपने की और अनन्तानन्दमयपने की प्रगटता वह भावमोक्ष है।

३. प्रकार = स्वरूप। रीति।

४. पंचास्तिकाय संग्रह पृष्ठ-२१७ से २१९

● हाँ, यह बात सत्य है कि यदि किसी जीव के विपुलमति मन:पर्ययज्ञान हो तो उस जीव को उसी भव से केवलज्ञान उत्पन्न होता ही है।

४१. प्रश्न – विपुलमति मन:पर्ययज्ञान अप्रतिपाति है; अतः वह केवलज्ञान को उत्पन्न कराता ही है – क्या यह कथन सत्य है ?

उत्तर – यह कथन व्यवहारनय की अपेक्षा सत्य है, निश्चयनय की अपेक्षा से नहीं; क्योंकि अत्यल्पज्ञान पर्याय सर्वज्ञरूप पूर्ण ज्ञानपर्याय को कैसे उत्पन्न कर सकती है ?

वास्तविक रूप से विचार किया जाय तो एक समयवर्ती कोई भी अनंतरपूर्व-समयवर्ती पर्याय अन्य उत्तरक्षणवर्ती पर्याय को उत्पन्न नहीं कर सकती। जो पर्याय स्वयं नष्ट हो रही हो; मर रही हो; वह दूसरों को कैसे उत्पन्न कर सकती है ? निश्चित ही उत्पन्न नहीं कर सकती।

केवलज्ञान पर्याय तो ज्ञान का घनपिण्ड जीवद्रव्य में से अथवा ज्ञानगुण में से उत्पन्न होती है। जैसा वस्तु का सही स्वरूप है, उसे वैसा ही जानना चाहिए।

आचार्यश्री नेमीचन्द्र ने गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गाथा ६९ में केवलज्ञान को असहाय विशेषण से स्पष्ट किया है; यह भी हमें समझना आवश्यक है।

आचार्यश्री नेमिचंद्र ने गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गाथा ६९ में केवलज्ञान को असहाय विशेषण से स्पष्ट किया है; यह भी हमें समझना आवश्यक है।

वास्तविकरूप से सोचा जाय तो क्षायिक अर्थात् पूर्ण निर्मल/सर्वथा शुद्ध ऐसी श्रद्धा की सम्यक् पर्याय भी ज्ञान अथवा चारित्र को क्षायिक करने में असमर्थ है।

४२. प्रश्न – यह कैसे ?

उत्तर – गुणस्थान के अनुसार देखा जाय तो चौथे गुणस्थान में ही क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है। **जैसे** – श्रेणिक राजा को गृहस्थ जीवन में भी क्षायिक सम्यक्त्व हो गया था।

- यदि क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय, ज्ञान को क्षायिक बना सके तो चौथे गुणस्थान में ही केवलज्ञान होना चाहिए; किन्तु केवलज्ञान तो तेरहवें गुणस्थान में ही होता है, यह बात आगम के अभ्यासी अच्छी तरह से जानते हैं।
- यदि क्षायिक सम्यक्त्व ही चारित्र को क्षायिक बनाने में समर्थ हो तो बारहवें गुणस्थान में होनेवाला क्षायिक चारित्र चौथे गुणस्थान में होना आवश्यक होगा; लेकिन ऐसा होता नहीं है।

प्रथमानुयोग के शास्त्रों में हम यह भी पढ़ते हैं कि –

- श्रेणिक राजा को क्षायिक सम्यक्त्व था, तथापि उसे देशसंयम भी नहीं था, तब क्षायिक चारित्र की बात कैसे करें ?
- श्रेणिक राजा का ज्ञान भी मति-श्रुतरूप अल्प ही था।

उपर्युक्त कथन से प्रत्येक पाठक को यह सहज और स्पष्ट समझना चाहिए कि **एक गुण की सम्यक् पर्याय अन्य गुण की पर्याय में कुछ भी करने के लिए समर्थ नहीं है।**

जहाँ एक जीव द्रव्य में रहनेवाली श्रद्धा गुण की क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय, उसी जीव द्रव्य के ज्ञान एवं चारित्र गुण की पर्याय में कुछ भी करने के लिए समर्थ नहीं है, वहाँ कोई मनुष्य-देश, समाज, संस्था, घर, शरीर इत्यादि का अच्छा या बुरा कर सकता है क्या ? अर्थात् नहीं कर सकता। परन्तु मात्र अज्ञानवश कल्पना करता है। अतः सबका मात्र ज्ञाता रहना ही जीव का स्वभाव व पुरुषार्थ है।

४३. प्रश्न – सम्यग्दर्शन से ही ज्ञान चारित्र में सम्यक्पना होता है – ऐसा नियमरूप कथन शास्त्रों में सर्वत्र मिलता है। सभी विद्वान भी ऐसा ही कथन करते हैं; यह कथन आपको मान्य है या नहीं ?

उत्तर – श्रद्धा सम्यक् होते ही सभी गुणों में सम्यक्पना आता है, ऐसा शास्त्र-कथन निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराने के लिए किया जाता है, तथापि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो यह व्यवहारनय का उपचरित कथन है – स्थूल कथन है, वास्तविक नहीं।

वास्तविक स्वरूप तो यह है कि ज्ञान गुण भी अपनी क्षणिक उपादानगत योग्यता से सम्यक्रूप परिणत होता है, और श्रद्धा गुण की पर्याय भी अपने ही कारण से उस समय सम्यक्रूप ही रहती है।

एक गुण या एक गुण की पर्याय, दूसरे गुण अथवा दूसरे गुण की पर्याय का कार्य करती है – ऐसा वस्तुस्वरूप त्रिकाल में नहीं है।

दो पर्यायों में परस्पर एक-दूसरे के साथ अनुकूलता का जो ज्ञान होता है, उसे ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं। इसी को कालप्रत्यासत्ति भी कहते हैं।

दो द्रव्यों के, दो गुणों के, दो पर्यायों का काल एक ही होना, उसे कालप्रत्यासत्ति (काल की नजदीकता अथवा उपस्थिति, दोनों पर्यायों का काल एक ही होना) कहते हैं।

यहाँ इस प्रकरण में दो द्रव्यों की बात नहीं है; अपितु एक ही जीव द्रव्य के श्रद्धा एवं ज्ञान गुण की पर्याय की बात है। दो गुणों की एक समय में होनेवाली दो पर्यायों की बात है।

यहाँ वैसे तो एक श्रद्धा गुण की सम्यक्त्वरूप पर्याय और उसी समय उसी जीव द्रव्य के अन्य अनन्त गुणों में होनेवाली पर्यायों की चर्चा अपेक्षित है।

श्रद्धा गुण की सम्यक्त्व पर्याय होते ही उसीसमय ज्ञानादि अन्य गुणों का भी सम्यक् परिणमन अपने-अपने कारण से अर्थात् स्वतंत्ररूप से होता है। इसी कारण सम्यक्त्व के निमित्त से अन्य अनन्त गुणों के पर्याय में भी सम्यक्पना आ जाता है – ऐसा व्यवहार से कथन होता है।

४४. प्रश्न – जब श्रद्धा गुण की मिथ्यात्व पर्याय होती है, तब अन्य गुणों के मिथ्या पर्यायों में भी वह मिथ्यात्वपर्याय निमित्त होती है क्या ?

उत्तर – हाँ, हाँ ! आपकी बात सही है, तथापि यहाँ **प्रत्येक गुण का परिणमन अपने-अपने उपादान से होता है, इस विषय को भूलना नहीं चाहिए।**

किसी भी पर्याय में कार्य-कारणरूप उपादान एवं निमित्त – दोनों ही कारण अवश्य होते हैं, इसका स्मरण रखना जरूरी है।

विवक्षित कार्य का उपादान तो मूलद्रव्य होता है, जो स्वयं परिणमन करता है और निमित्त तो उसे कहते हैं, जो करता तो कुछ नहीं; तथापि उसके ऊपर अनुकूलता का आरोप आता है।

निमित्त कार्य में अकिंचित्कर होता है, क्योंकि उपादान कार्य के लिए अनुरूप होता है और निमित्त अनुकूल होता है।

कथन निमित्त की मुख्यता से होता है; तथापि कार्य तो उपादानरूप कारण से ही होता है।

ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है, इस विषय को लेकर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का चिन्तन इसप्रकार है –

"शुद्धात्मा को उपादेय करके जैसे-जैसे स्वसन्मुखता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे पर भाव छूटते जाते हैं और ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है; तथा शुद्धता बढ़ने पर गुणस्थान भी बढ़ता है। ज्ञानी का जैसा-जैसा गुणस्थान बढ़ता जाता है, वैसी-वैसी हेय-ज्ञेय-उपादेय शक्ति भी बढ़ती जाती है।

४५. प्रश्न – ज्ञानी का जैसा-जैसा गुणस्थान बढ़ता जाता है, वैसी-वैसी अशुद्धता छूटती जाती है और शुद्धता बढ़ती जाती है अर्थात् हेय और उपादेय शक्ति तो बढ़ती जाती है; परन्तु गुणस्थानानुसार ज्ञान भी बढ़ता है। यह किसप्रकार?

प्रश्न का खुलासा – किसी को चतुर्थ गुणस्थान ही हो, तथापि अवधिज्ञान होता है; जबकि किसी को बारहवाँ गुणस्थान हो तो भी अवधिज्ञान न हो – ऐसी दशा में गुणस्थान बढ़ने पर ज्ञान शक्ति भी बढ़ती है – यह नियम तो नहीं रहा?

उत्तर – यहाँ स्वज्ञेय को जानने की प्रधानता है, क्योंकि यहाँ मोक्षमार्ग के साधने का प्रकरण है।

मोक्षमार्ग कहीं अवधिज्ञान से नहीं सधता, वह तो सम्यक् मति-श्रुतज्ञान द्वारा स्वज्ञेय को पकड़ने से सधता है और स्वज्ञेय को पकड़ने की ऐसी ज्ञानशक्ति तो गुणस्थान बढ़ने पर नियम से बढ़ती ही है।

चतुर्थ गुणस्थानवाले अवधिज्ञानी की अपेक्षा, अवधिज्ञानरहित बारहवें गुणस्थानवाले जीव के ज्ञान में स्वज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति विशेष बढ़ गई है।

स्वज्ञेय की तरफ ढलनेवाला ज्ञान ही मोक्षमार्गरूप प्रयोजन को साधता है।

गुणस्थान प्रमाण (अपनी योग्यता से) ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है (या वैसी की वैसी बनी रहती है); परन्तु एक गुणस्थान में बहुत से जीव हों तो सबका ज्ञान एक-सा नहीं होता और उन सबकी क्रिया भी समान नहीं होती। एक गुणस्थानवर्ती अनेक जीवों के ज्ञानादि में तारतम्यता होती है; किन्तु उनकी जाति विरुद्ध नहीं होती।

चतुर्थ गुणस्थान में असंख्य जीव हैं, उनका उदयभाव भिन्न है, फिर भी सभी ज्ञानियों के ज्ञान की जाति तो एक ही है।

सभी ज्ञानी जीवों का ज्ञान स्वाश्रय से ही मोक्षमार्ग जानता है; पराश्रय से मोक्षमार्ग माने – ऐसा किसी ज्ञानी का ज्ञान नहीं होता।

एक गुणस्थान में सभी ज्ञानियों का औदयिक भाव तथा ज्ञान का क्षायोपशमिक भाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, तथापि उस उदयभाव के आधार से ज्ञान नहीं है, ज्ञान तो स्वज्ञेयानुसार है।

स्व-ज्ञेय का ज्ञान सभी ज्ञानियों को होने का नियम है, परन्तु अमुक उदयभाव होना चाहिये अथवा अमुक बाहर का जानपना होना

चाहिए – ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं।

इस सम्बन्ध में पं. राजमलजी पाण्डे ने 'समयसार कलश १३ की टीका' में सरस बात की है। वे कहते हैं :–

"आत्मानुभव परद्रव्य की सहायता से रहित है, इसकारण अपने ही में अपने से आत्मा शुद्ध होता है..... **जीववस्तु का जो प्रत्यक्षरूप से आस्वाद, उसको आत्मानुभव – ऐसा कहा जाय अथवा ज्ञानानुभव – ऐसा कहा जाय; दोनों में नामभेद है, वस्तुभेद नहीं है; अतः ऐसा जानना कि आत्मानुभव मोक्षमार्ग है।**

इस प्रसंग में और भी संशय होता है कि कोई जानेगा कि द्वादशांग ज्ञान कोई अपूर्वलब्धि है।

उसके प्रति समाधान इसप्रकार है कि द्वादशांगज्ञान भी विकल्प है। उसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है; इसलिये शुद्धानुभूति के होने पर शास्त्र पढ़ने की कुछ अटक नहीं है।"[१]

द्वादशांग भी ऐसा ही कहता है कि शुद्धात्मा में प्रवेश करके जो शुद्धात्मानुभूति हुई, वही मोक्षमार्ग है।

जहाँ शुद्धात्मानुभूति हुई, वहाँ फिर कोई नियम या टेक नहीं है कि इतने शास्त्र जानना ही चाहिए अथवा इतने शास्त्र जाने, तभी मोक्षमार्ग बने; विशेष शास्त्र ज्ञान हो या न हो, परन्तु **जहाँ शुद्धात्मानुभूति हुई – वहाँ मोक्षमार्ग हो ही गया।**

उदयभाव से या बाहर के जानपने के आधार से गुणस्थान का माप नहीं निकलता; किन्तु अन्दर की शुद्धता के आधार से या स्वसत्ता का अवलम्बन कैसा है – उसके आधार से गुणस्थान का माप निकलता है।

---

१. समयसार कलश टीका-१३

चौथे गुणस्थान में असंख्यात जीव हैं; सामान्यपने तो सबको समान गुणस्थान है, दृष्टि भी सबकी समान है; किन्तु **ज्ञान का क्षयोपशम सर्वप्रकार से समान नहीं होता। क्षयोपशमभाव तथा उदयभाव का ऐसा स्वभाव है कि उसमें भिन्न-भिन्न जीवों के बीच में तारतम्यता होती है।**

क्षायिकभाव में तारतम्यता नहीं होती, उसमें तो एक ही प्रकार होता है। लाखों केवली भगवान तेरहवें गुणस्थान में विराजते हैं; **उन सभी का क्षायिकभाव समान है, किन्तु औदयिकभाव में भिन्नता है।**

चौथे गुणस्थान में स्थित असंख्यात जीवों में से उदयभाव में किसी के मनुष्यगति का उदय, किसी के नरकगति का उदय, किसी के हजार योजन की मोटी अवगाहना का उदय, किसी के एक हाथ जितनी छोटी अवगाहना। किसी के अल्पायु का उदय, किसी की असंख्यात वर्षों की आयु, किसी के असाता और किसी के साता – इसप्रकार अनेक भाँति की विचित्रता होती है। **इसीतरह ज्ञान में भी क्षयोपशम की विचित्रता अनेक प्रकार की होती है।**

अभी साधक को ज्ञान अवस्था में बहुत कुछ परावलम्बन भी है, क्योंकि जब तक इन्द्रियज्ञान तथा रागादि है, तब तक परावलम्बन भी है; परन्तु उस परावलम्बन में ज्ञानी मोक्षमार्ग नहीं मानता।

किसी भी ज्ञानी का ज्ञान ऐसा नहीं होगा कि पराश्रय से मोक्षमार्ग माने। पराश्रितभाव से मोक्षमार्ग माने तो वह ज्ञान 'ज्ञान' नहीं, 'अज्ञान' है। ज्ञानी के ज्ञान में अमुक परावलम्बीपना होने पर भी मिथ्यापना नहीं है, क्योंकि परावलम्बीपने को वह उपादेयरूप अथवा मोक्षमार्ग मानता नहीं। मोक्षमार्ग तो स्वाश्रित ही है।[१]

---

१. परमार्थवचनिका प्रवचन, पृष्ठ-८० से ८४ तक।

सम्यक् मति-श्रुत ने केवलज्ञान का अनुसंधान किया है।

कौन कह सकता है – मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान का अंश है?

जिसने पूर्ण ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में लेकर उस स्वभाव के आधार से सम्यक् अंश प्रगट किया हो, वही पूर्णता के साथ संधि करके (पूर्णता के लक्ष से) कह सकता है कि जो यह मेरा ज्ञान है, वह केवलज्ञान का अंश है, केवलज्ञान का नमूना है।

जो राग में ही लीन रहता है, उसका ज्ञान तो राग का हो गया, उसको तो राग से भिन्न ज्ञानस्वभाव की खबर ही नहीं, तब 'यह ज्ञान इस स्वभाव का अंश है' – ऐसा वह किसतरह जानेगा? जब वह अपने ज्ञान को पर से व राग से पृथक् ही नहीं जानता, तब उसको स्वभाव का अंश कहने का अवसर रहा ही कहाँ?

स्वभाव के साथ जो एकता करे, वही अपने ज्ञान को 'यह स्वभाव का अंश है' – ऐसा जान सकता है, राग के साथ एकतावाला यह बात (रहस्य-मर्म) नहीं समझ सकता।''[१]

---

१. अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ-३६

सम्यक्चारित्र की पूर्णता

(क्रम से)

ज्ञान एवं उसकी पूर्णता का विकास का स्वरूप पिछले प्रकरण में हमने स्पष्ट किया है।

अब हमें मोक्षमार्गी के जीवन में चारित्र का विकास एवं उसकी पूर्णता नियम से क्रम से ही होती है, यह समझना है।

वस्तु-स्वरूप की यह कैसी विचित्रता है कि श्रद्धा गुण का सम्यक् परिणमन और उसकी पूर्णता एक साथ (एक ही समय में) होती है किन्तु चारित्र गुण के विकास एवं पूर्णता का स्वरूप एकदम भिन्न ही है।

अर्थात् सम्यक् चारित्र का विकास क्रम से ही होता है, भले पूर्णता के लिए समय कम या अधिक लगे।

चौथे गुणस्थानवर्ती का चारित्र संयम नाम नहीं पाता; तथापि चारित्र में आंशिक शुद्धता तथा सम्यक्पना तो आ ही जाता है। क्योंकि यहाँ मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कषायों का अभाव हुआ है।

चौथे गुणस्थान से लेकर चारित्र में विकास होता रहता है, बढ़ते-बढ़ते ग्यारहवें एवं बारहवें गुणस्थान में मोह-परिणाम का सर्वथा उपशम या क्षय होने पर पूर्ण सुख के साथ चारित्र (यथाख्यातरूप) पूर्ण हो जाता है।

तथापि सहवर्ती गुणों की अपेक्षा तथा योग एवं चार अघाति कर्मों के सद्भाव से चारित्र में कुछ कमी का भी कथन शास्त्र में मिलता है। इन सभी विषयों का कथन आगे क्रम से देने का प्रयास है।

४६. प्रश्न – श्रद्धा-गुण के सम्यक्रूप परिणमन के साथ चारित्र गुण के सम्यक्रूप उत्पाद, विकास एवं उसकी पूर्णता का क्या स्वरूप है ? यह स्पष्ट करें।

उत्तर – सम्यक्चारित्र का जन्म/उत्पाद तो श्रद्धा-गुण के सम्यक्रूप पर्याय के समय ही होता है, इन दोनों का जन्म अर्थात् प्रगटता साथ-साथ ही होती है।

अब सम्यक्चारित्र का विकास किस क्रम से होता है, उसे स्पष्ट करते हैं –

वीतराग परिणाम को ही चारित्र कहते हैं।

यहाँ बाह्य व्रत, बाह्य संयम, उपवास आदि को चारित्र कहने या नहीं कहने की बात नहीं है। बाह्य पदार्थों के त्यागरूप परिणाम भी यथायोग्य समय पर भूमिकानुसार होते रहते हैं, बाह्य चारित्र/व्यवहार चारित्र का कथन भी सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में ही आया है।

४७. प्रश्न – सम्यक्चारित्र का विकास गुणस्थान के अनुसार किसप्रकार होता है, स्पष्ट करें।

उत्तर – सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति सम्यग्दर्शन के साथ-साथ चौथे गुणस्थान में ही होती है, यह स्पष्ट है।

इसका कारण चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागता है। यथायोग्य संवर एवं निर्जरा तत्त्व भी व्यक्त हो गये हैं। करणानुयोग भी इस विषय का समर्थन करता है।

४८. प्रश्न – करणानुयोग चौथे गुणस्थान को अविरत कहता है, इसकी मुख्यता से चौथे गुणस्थान में चारित्र नहीं है – ऐसा मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर – बुद्धिपूर्वक व्रतों का स्वीकार नहीं है, असंयमी है – इसकी मुख्यता से चौथे गुणस्थान में संयमरूप अर्थात् देशसंयमरूप चारित्र, सकल संयमरूप चारित्र नहीं है – ऐसा स्वीकारने में कोई आपत्ति नहीं है। जिनवाणी में जिस अपेक्षा से जो कथन किया है; उसे उस अपेक्षा से स्वीकार करना ही चाहिए।

चौथे गुणस्थान में द्रव्यानुयोग ने जिस विवक्षा से चारित्र का कथन किया है, उसे भी सबको स्वीकार करना चाहिए। **हठ करने में हित नहीं है।**

४९. प्रश्न – आप कुछ भी कहो; किन्तु चौथे गुणस्थान में आपको चारित्र मनवाने का हठ तो दिखता ही है – ऐसा हम क्यों नहीं समझें ?

उत्तर – भाईसाहब ! आपको हम कुछ प्रश्न पूछते जाते हैं, आप उनका उत्तर देते जाओगे तो सम्पूर्ण विषय स्पष्ट होगा – ऐसा हमें लग रहा है। प्रयास करते हैं –

५०. प्रश्न – मिथ्यात्व गुणस्थान में कौनसा चारित्र है ?

उत्तर – मिथ्यात्व गुणस्थान में सम्यक्त्व न होने के कारण चारित्र तो मिथ्या ही है, इस सम्बन्ध में किसी से कुछ पूछने की और अधिक चर्चा करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

५१. प्रश्न – सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान में मिथ्याचारित्र तथा सम्यक्चारित्र में से कौनसा चारित्र है ?

उत्तर – सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान में सम्यक्त्व की विराधना हुई है, मिथ्यात्व नहीं हुआ है और अनन्तानुबन्धीरूप चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से अनन्तानुबन्धी कषायभाव हुए हैं; अतः यहाँ भी चारित्र मिथ्या ही है।

५२. प्रश्न – सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में कौनसा चारित्र है ?

उत्तर – तीसरे गुणस्थान में श्रद्धा मिश्ररूप अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्वरूप होने से यहाँ चारित्र भी मिश्ररूप अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्वरूप ही है; किन्तु सम्यक्चारित्र नहीं है।

५३. प्रश्न – चौथा गुणस्थान तो सम्यक्त्वसहित है, अतः हमारा आपसे प्रश्न है कि यहाँ चारित्र कौनसा मानना चाहिए ? मिथ्याचारित्र अथवा सम्यक्चारित्र ?

उत्तर – यहाँ सम्यक्त्व का अस्तित्व होने के कारण कोई भी समझदार व्यक्ति यही कहेगा कि **चौथे गुणस्थान में सम्यक्चारित्र होता है।**

चौथे गुणस्थान में व्रतरूप चारित्र नहीं है, इस अपेक्षा से चौथे गुणस्थान में चारित्र कहना अयुक्त है और **सम्यक्त्व होते हुए भी एवं चारित्रमोहनीय अनंतानुबंधी कषाय परिणाम न होने पर भी सम्यक्चारित्र का स्वीकार न करना भी हठधर्मिता है।**

आचार्यश्री कुंदकुंद ने सम्यक्त्व होते ही चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण चारित्र का स्वीकार किया है।[१]

जैसी-जैसी वीतरागता बढ़ती जाती है। तदनुसार सम्यक्चारित्र में शुद्धता का विकास होता रहता है। सम्यक्चारित्र के विकास के साथ-साथ सुख-आनंद, संवर-निर्जरा भी सहज ही बढ़ते रहते हैं। सम्यक्त्व होने के बाद सम्यक्चारित्र के विकास के लिए विशेष अधिक पुरुषार्थ करना अति आवश्यक है।

- चौथे गुणस्थान से पाँचवें गुणस्थान में चारित्र नियम से वृद्धि को ही प्राप्त होता है।

५४. प्रश्न – चौथे से पाँचवें गुणस्थान में चारित्र बढ़ गया – इसका क्या कारण है ?

उत्तर – निमित्त की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में मात्र एक अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता व्यक्त थी, अब पाँचवें गुणस्थान में देशव्रत के ग्रहणपूर्वक अप्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी का भी अभाव होने से दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता/शुद्धता बढ़ गयी है।

उपादानकारण की अपेक्षा विचार किया जाए तो साधक श्रावक ने निज शुद्धात्मा का आश्रय/ध्यान विशेषरूप से किया है। ध्यान की

१. चारित्रपाहुड़ गाथा-८

उग्रता/विशेषता बढ़ गयी है, निजशुद्धात्मा में स्थिरता की वृद्धि यही मुख्य अर्थात् सही कारण है।

५५. प्रश्न – मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता किस कारण से प्रगट हुई है ?

उत्तर – मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय कर्म का अभाव भी तत्त्व निर्णयपूर्वक मात्र शुद्धात्मा के ध्यान से ही हुआ है, होता है; अन्य कोई साधन या उपाय इसमें कार्यकारी नहीं है।

धर्म अर्थात् वीतरागता, शुद्धि, संवर-निर्जरा, सुख, आनंद उत्पन्न करना हो, बढ़ाना हो अथवा पूर्ण करना हो तो यह निज शुद्धात्मा का ध्यान अथवा निजशुद्धात्मा का आश्रय – यह एक ही मार्ग है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

आचार्य अमितगति योगसार-प्राभृत में लिखते हैं :-

तस्मात्सेव्यः परिज्ञाय श्रद्धयात्मा मुमुक्षुभिः।
लब्ध्युपायः परो नास्ति यस्मान्निर्वाणशर्मणः ॥४४॥

सरलार्थ – मोक्ष की इच्छा रखनेवाले साधक को, शुद्ध आत्मा को जानकर श्रद्धा द्वारा निजात्मा की उपासना करना चाहिए; क्योंकि मोक्षसुख की प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय/साधन नहीं है।

न मोह-प्रभृति-च्छेदः शुद्धात्मध्यानतो विना।
कुलिशेन विना येन भूधरो भिद्यते न हि ॥३०६॥

सरलार्थ – जिसप्रकार वज्र के बिना पर्वत नहीं भेदा जाता, उसी-प्रकार ***शुद्ध आत्मा के ध्यान बिना मोहादि कर्मों का छेद अर्थात् नाश नहीं होता।***

विभक्तचेतन-ध्यानमत्रोपायं विदुर्जिनाः।
गतावस्तप्रमादस्य सन्मार्ग-गमनं यथा ॥३३६॥

सरलार्थ – जिसप्रकार प्रमाद अर्थात् आलस्य रहित मनुष्य का सन्मार्ग पर सतत गमन करना अपेक्षित स्थान पर्यंत पहुँचने का सच्चा

उपाय है; उसीप्रकार परमात्म-पद प्राप्ति का अथवा तत्त्वांतगति अर्थात् **मुक्ति में पहुँचने का उपाय विभक्त चेतन अर्थात् शुद्धात्मा के ध्यान को ही जिनेन्द्र भगवंतों ने बतलाया है।**

नाध्यात्म-चिन्तनादन्यः सदुपायस्तु विद्यते।
दुरापः स परं जीवैर्मोहव्यालकदर्थितैः ॥३४२॥

सरलार्थ – अध्यात्म-चिंतन अर्थात् **निज शुद्धात्मा के ध्यान से भिन्न दूसरा कोई परमात्मस्वरूप साध्य का साधन नहीं है।** विशेष बात यह है कि जो जीव मोहरूपी सर्प से डसे हुए हैं अथवा मोहरूपी हाथी से पीड़ित हैं, उनके लिये शुद्धात्मा का ध्यानरूपी सदुपाय अर्थात् उत्तम उपाय अत्यंत दुर्लभ है।

५६. प्रश्न – धर्म के लिए निज शुद्धात्मा का ही ध्यान करना चाहिए, यह कथन मात्र द्रव्यानुयोग का है, अन्य अनुयोग की अपेक्षा जो उपाय हैं, उनका कथन आप क्यों नहीं करते ?

उत्तर – चरणानुयोग में बुद्धिपूर्वक परद्रव्य के त्याग की बात कही है, व्रत-उपवास का कथन किया है। करणानुयोग में कर्म के अभाव करने की बात आती है – ये सब उपाय पूर्वचर-सहचर्य हेतु होने से उपचरित व्यवहार का कथन हैं, वास्तविक साधन नहीं हैं।

- देशविरत गुणस्थान से छठवें-सातवें गुणस्थान में वीतरागता और बढ जाती है; क्योंकि ये दोनों गुणस्थान महाव्रती मुनिराज के हैं। मुनिराज तो आत्मध्यान का तीव्र पुरुषार्थ करते ही हैं, इसकारण वीतरागता विशेष वृद्धिगत होती है।

५७. प्रश्न – आपने यहाँ पाँचवें गुणस्थान से छठवें गुणस्थान में अधिक चारित्र होता है – ऐसा न कहकर छठवें-सातवें इसप्रकार दो गुणस्थानों का कथन एकसाथ ही क्यों किया ?

उत्तर – देशविरत गुणस्थान में दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक

वीतरागता है और छठवें-सातवें दोनों ही गुणस्थानों में तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता/चारित्र/शुद्ध परिणति है, इसलिए दोनों गुणस्थानों का कथन एकसाथ किया है।

अन्तर मात्र इतना है कि **छठवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय के तीव्र उदय के साथ शुभोपयोग रहता है तथा उसके साथ वीतरागतारूप शुद्ध परिणति रहती है और सातवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय के मंद उदय के साथ शुद्धोपयोग।**

- सातवें गुणस्थान से आठवें गुणस्थान में शुद्धि/चारित्र का विकास और अधिक होता है; क्योंकि इस आठवें गुणस्थान में प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि बढ़ती रहती है। आठवें गुणस्थान से श्रेणी भी शुरू हो जाती है। श्रेणी के काल में चारित्र नियम से विशेष-विशेष बढ़ता ही जाता है।
- आठवें गुणस्थान से नौवें गुणस्थान में वीतरागता और विशेष वृद्धिंगत हो जाती है। इस एक ही नौवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म की २० कर्मप्रकृतियों का उपशम वा क्षय हो जाता है।
- नौवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान में चारित्र और भी अधिक बढ़ जाता है। यहाँ तो मात्र एक सूक्ष्म लोभ परिणाम ही विद्यमान रहता है। समय-समय प्रति अनन्तगुणी विशुद्धि, वीतरागता बढ़ने का काम तो चल ही रहा है।
- दसवें गुणस्थान की अपेक्षा ग्यारहवें एवं बारहवें गुणस्थान में चारित्र और भी अधिक बढ़ जाता है।
- ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीयकर्म के उपशम के समय (निमित्त से) औपशमिक यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है।
- बारहवें गुणस्थान में क्षायिक यथाख्यातचारित्र व्यक्त हो गया है।
- बारहवें गुणस्थान से भी तेरहवें गुणस्थान में चारित्र विशेष विकसित

हो गया है; क्योंकि तेरहवें गुणस्थान में ज्ञानावरणादि तीन घाति कर्मों का भी क्षय हो गया है। यहाँ चारित्र, क्षायिकयथाख्यात तो है ही; लेकिन इस चारित्र के साथ केवलज्ञान भी होने के कारण यहाँ के चारित्र को परमावगाढ़ चारित्र अर्थात् भावमोक्ष कहते हैं।

- तेरहवें गुणस्थान की अपेक्षा चौदहवें गुणस्थान में योग के अभाव की अपेक्षा चारित्र और भी अधिक विशुद्ध हो गया है; क्योंकि यहाँ योग (आत्मप्रदेशों के कम्पनरूप चंचलता) का भी अभाव हो गया है।
- चौदहवें गुणस्थान से सिद्धावस्था में द्रव्य मोक्ष की अपेक्षा चारित्र और अधिक विशुद्ध/विकसित होकर पूर्ण हो गया है; क्योंकि सिद्धावस्था में चार अघाति कर्मों का भी अभाव हो गया है तथा प्रदेशत्व गुण अर्थात् व्यंजन पर्याय भी शुद्ध हो गई है; जो अबतक अशुद्ध थी।
- इसप्रकार **सिद्धावस्था के प्रथम समय में सम्यक्चारित्र की पूर्णता हो जाती है। अब यह चारित्र की पूर्णता भविष्य में अनंतकाल तक वैसे की वैसे ही पूर्ण ही रहेगी।**

५८. प्रश्न – सिद्धावस्था के प्रथम समय में मोक्षमार्ग की पूर्णता का अर्थ आपने सिद्ध भगवान को भी मोक्षमार्गी मान लिया, मुक्त नहीं माना; क्या हम ऐसा ही समझें ?

उत्तर – नहीं, आपका मानना सही नहीं है। हमने सिद्धावस्था में मोक्षमार्ग नहीं माना है; परन्तु मोक्षमार्ग की पूर्णता मानी है। मोक्षमार्ग की पूर्णता कहो अथवा मोक्ष कहो दोनों का एक ही अर्थ है।

मोक्षमार्ग तो चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक है। **साधनों की अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता ही साध्यरूप मोक्ष की प्राप्ति है। साधनों की पूर्णता ही साध्य की प्राप्ति है।**

मोक्षमार्ग का व्यय और मोक्ष का उत्पाद – ये दोनों एक समय में होते हैं।[१] मोक्षमार्ग और मोक्ष दोनों एकसाथ/एकसमय में नहीं होते।

५९. प्रश्न – हमें शंका होती है कि मोक्षमार्ग का व्यय होने पर मोक्ष में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का अस्तित्व रहेगा या नहीं, सिद्ध भगवान सम्यग्दर्शनादि से रहित होंगे, क्या हमें ऐसा स्वीकार करना उचित है?

उत्तर – नहीं, मोक्षमार्ग का व्यय होने पर भी मोक्ष में सम्यग्दर्शनादि का व्यय/अभाव नहीं होता। मोक्ष में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय विद्यमान रहेंगे।

अंतर मात्र इतना रहेगा कि मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शनादि साधनरूप से थे, वे ही मोक्ष में साध्यरूप से रहेंगे। पहले उपायरूप से थे अब मोक्ष में वे ही उपेयरूप से विद्यमान रहेंगे। सम्यग्दर्शनादि का मोक्ष में अभाव नहीं होता।

इस विषय को मोक्षमार्ग प्रकाशक में अति स्पष्टरूप से पृष्ठ ३२२ पर दिया है, उसे हम आगे दे रहे हैं –

फिर प्रश्न है कि – सम्यग्दर्शन को तो मोक्षमार्ग कहा था, मोक्ष में इसका सद्भाव कैसे कहते हैं?

उत्तर – कोई कारण ऐसा भी होता है जो कार्य सिद्ध होने पर भी नष्ट नहीं होता। जैसे – किसी वृक्ष के किसी एक शाखा से अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई, उसके होने पर वह एक शाखा नष्ट नहीं होती; उसी प्रकार किसी आत्मा के सम्यक्त्वगुण से अनेक गुणयुक्त मुक्त अवस्था हुई, उसके होने पर सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता। इस प्रकार केवली-सिद्ध भगवान के भी तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व ही पाया जाता है।

- सम्यग्दर्शन की पूर्णता चौथे गुणस्थान में, सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में सम्यक्चारित्रगुण की भाव शुद्धता बारहवें गुणस्थान में और द्रव्य चारित्र की पूर्णता सिद्धावस्था के प्रथम समय में होने से अब साधक सिद्ध हो गये हैं।

१. प्रवचनसार गाथा-१०२ की टीका देखें।

६०. प्रश्न – चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर्यन्त जीव को साधक अर्थात् संसारी मानना है या नहीं मानना ?

उत्तर – चौदहवें गुणस्थानवर्ती को हम ही संसारी मान रहे हैं – ऐसा नहीं है। वे साधक होने से संसारी ही हैं; क्योंकि अभी वे सकल (शरीरसहित) परमात्मा हैं। शास्त्र में इनको शुद्ध व्यवहारी कहा है।

अघाति कर्मों का उन्हें सद्भाव है। मनुष्यायु का उदय भी तो है, असिद्धत्व भाव भी है; इसलिए चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर्यन्त अरहन्त भगवान संसारी ही हैं। अरहन्त को जीवनमुक्त, इषत्संसारी या नोसंसारी भी कहते हैं।

६१. प्रश्न – फिर संसारावस्था का नाश और सिद्धावस्था की प्राप्ति कब हुई ?

उत्तर – संसारावस्था का नाश और सिद्धावस्था का उत्पाद दोनों का समय एक ही है। पहले संसार का नाश होता है और कुछ काल व्यतीत होने पर सिद्धावस्था की प्राप्ति होती है, ऐसा समय-भेद नहीं है।

पहले अन्धकार निकल जाता है, तदनन्तर मन्द-मन्द गति से प्रकाश का प्रवेश होता है – ऐसा नहीं है। **पूर्व पर्याय का व्यय व नवीन पर्याय का उत्पाद एक ही काल में होता है, उनमें समय भेद नहीं होता है।**[१]

६२. प्रश्न – दसवें गुणस्थान के अन्त में चारित्रमोहनीय का अभाव होकर बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही क्षायिक यथाख्यात-चारित्र होता है; तथापि आप सम्यक्चारित्र की पूर्णता सिद्धावस्था के प्रथम समय में क्यों कहते हो?

उत्तर – सम्यक्चारित्र की पूर्णता के लिए मात्र चारित्रमोहनीय कर्म का ही अभाव अपेक्षित नहीं है; अपितु पूर्ण वीतरागता के साथ योग एवं चार अघाति कर्मों का अभाव भी अपेक्षित होता है, इसीलिए भाव तथा द्रव्य चारित्र की पूर्णता सिद्धावस्था के प्रथम समय में ही होती है।

१. प्रवचनसार गाथा १०२ की टीका

इस विषय की स्पष्टता के लिए हम बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की हिंदी टीका का विशिष्ट अंश आगे दे रहे हैं –

६३. "**यहाँ शिष्य पूछता है कि** केवलज्ञान की उत्पत्ति होने पर मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय की परिपूर्णता हो गई तो उसी क्षण मोक्ष होना चाहिये। अतः सयोगी-अयोगीजिन नामक दो गुणस्थानों का काल नहीं रहता है।

इस शंका का उत्तर देते हैं – यथाख्यातचारित्र तो हुआ; परन्तु परम यथाख्यातचारित्र नहीं है। **यहाँ दृष्टान्त है** – जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता है तो भी उसे चोर के संसर्ग का दोष लगता है; उसी प्रकार सयोग केवलियों के चारित्र का नाश करनेवाले चारित्रमोह के उदय का अभाव होने पर भी निष्क्रिय शुद्धात्म-आचरण से विलक्षण तीन योग का व्यापार चारित्र में दोष उत्पन्न करता है।

तथा तीन योग का जिसको अभाव है उस अयोगी जिनको, चरम समय के अतिरिक्त, शेष चार अघातिकर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दोष उत्पन्न करता है। चरम समय में मंद उदय होने पर, चारित्र में दोष का अभाव होने से, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।"[१]

यथाख्यात चारित्र को लेकर और कुछ चर्चा प्रश्नोत्तररूप में करते हैं –

६४. **प्रश्न :** आपने बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में भाव चारित्र के पूर्ण होने का कथन किया; वह हमें पूर्णरूप से समझ में नहीं आया, कृपया स्पष्ट करें?

उत्तर : मोहनीय कर्म के उदय से प्रगट होनेवाले परिणाम को मिथ्याचारित्र या अचारित्र कहते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान पर्यंत तीनों गुणस्थान में मिथ्याचारित्र रहता है।

चौथे गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान के अंतिम समय पर्यंत यथास्थान चारित्रमोह कर्म का उदय एवं चारित्र मोह परिणाम होने से

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा-१३ की टीका

चारित्र सम्यक् होने पर भी (साथ में सूक्ष्म लोभ के कारण) अचारित्र भी रहता है।

चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यंत जितनी मात्रा में कषाय के अभावपूर्वक वीतरागता प्रगट है, उतनी मात्रा में सम्यक्चारित्र व्यक्त है; यह विषय स्पष्ट है।

ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से लेकर नियम से पूर्ण वीतराग परिणाम रहता है। अत: ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही भाव चारित्र पूर्ण प्रगट होता है, क्योंकि यहाँ (इन दोनों) गुणस्थानों में वीतरागता पूर्ण रूप से प्रगट है।

अर्थात् किसी भी प्रकार का कोई मोह-राग-द्वेष परिणाम नहीं है। इसलिए हमने बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही भावचारित्र पूर्ण है, ऐसा लिखा है। इसीतरह तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्ध अवस्था में भाव चारित्र पूर्ण रूप से ही प्रगट रहता है।

परमार्थत: जब तक आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दनरूप योग का एवं नरदेहाकार रूप विभाव व्यंजन पर्याय का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता तब तक चारित्र गुण की परिपूर्ण शुद्ध अवस्था व्यक्त हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी अपेक्षा से स्वभाव व्यंजन पर्याय परिणत सिद्ध अवस्था में चारित्र की पूर्णता कही जाती है।

६५. प्रश्न : तेरहवें गुणस्थान में भाव चारित्र का प्रगट स्वरूप कैसा रहता है ?

उत्तर : तेरहवें गुणस्थान में वीतरागता पूर्ण होने के कारण यहाँ ग्यारहवें एवं बारहवें गुणस्थान के समान यथाख्यात चारित्र तो है ही। तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट होने के कारण यथाख्यात चारित्र को परम यथाख्यात/परमावगाढ़ यथाख्यात चारित्र भी कहते हैं। तथापि अभी सयोगी जिन अवस्था होने से आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्दनरूप अचारित्र विद्यमान कहा जाता है। उसका भी अभाव अभीष्ट है।

६६. प्रश्न : चौदहवें गुणस्थान में भाव चारित्र का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर : तेरहवें गुणस्थान के समान ही चौदहवें गुणस्थान में परम यथाख्यात चारित्र तो है ही; तथापि तेरहवें गुणस्थान से यहाँ चारित्र और अधिक परिष्कृत/विशुद्धरूप हो गया है; क्योंकि यहाँ योग का/आत्मा के प्रदेशों के परिस्पन्दन का अभाव हो गया है।

६७. प्रश्न : सिद्ध अवस्था के प्रथम समय में प्रगट चारित्र का क्या स्वरूप है ?

उत्तर : चौदहवें गुणस्थान की अपेक्षा सिद्धावस्था के प्रथम समय में चारित्र और भी अधिक विशुद्ध (परिष्कृत) हो गया है। स्वभाव व्यंजन पर्याय प्रगट हो गई है। अब भविष्य में अनंत काल तक चारित्र के परिष्करण में और कुछ होना शेष नहीं रहा; क्योंकि यहाँ चारित्र में किसी प्रकार की कुछ कमी नहीं।

चौदहवें गुणस्थान में चार अघाति कर्मों के उदय के कारण एवं असिद्धत्व औदयिक भाव के कारण जो कुछ कमियाँ थीं अब यहाँ उनका भी सर्वथा अभाव हो गया है। इसलिए सम्यक्चारित्र पूर्णरूप से विशुद्ध हो गया है। चौदहवें गुणस्थान में अर्थात् सदेह अरहंत अवस्था के कारण आत्मा के व्यंजन पर्याय थी। अब सिद्ध अवस्था के प्रथम समय में आत्मा की व्यंजन पर्याय भी पूर्ण शुद्ध हो गयी है। अत: यहाँ द्रव्य चारित्र की पर्याय भी पूर्णरूप से प्रगट हो गयी है। भावचारित्र तो बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में प्रगट हो ही गया था। अत: यहाँ (सिद्ध अवस्था के प्रथम समय में) भाव एवं द्रव्य चारित्र पूर्णता को प्राप्त हो गया है।

६८. प्रश्न – एक बार सम्यक्चारित्र उत्पन्न हो गया तो वह नियमपूर्वक बढ़ते-बढ़ते सिद्धावस्थापर्यंत पहुँच ही जाता है अथवा बीच में कुछ पतित होने की अनपेक्षित एवं दु:खद घटना भी हो सकती है ?

उत्तर – एक बार सम्यक्चारित्र उत्पन्न होने पर वह चारित्र उसी भव में सिद्धावस्था पर्यंत बढ़ते हुए पूर्ण होने का नियम नहीं है।

- ऐसे बहुत कम जीव होते हैं, जिनके जीवन में सम्यक्चारित्र उत्पन्न होने पर वे पतित न होकर सीधे उसी भव से सिद्ध हो जाते हैं।
- ऐसे जीव ही अधिक होते हैं, जिनके जीवन में एक बार सम्यक्चारित्र उत्पन्न हुआ और वे उससे रहित हो गये। सम्यक्त्व प्राप्त होते ही सम्यक्चारित्र तो उत्पन्न हुआ; लेकिन सम्यक्त्व छूटते ही सम्यक्चारित्र भी नियम से छूट जाता है।
- अनेक साधक ऐसे भी होते हैं, जो सम्यक्त्व एवं सम्यक्चारित्र के साथ देशविरत गुणस्थानपर्यंत ही चारित्र बढ़ा पाते हैं और फिर संयमासंयम चारित्र को छोड़कर भी मात्र अविरत सम्यग्दृष्टि ही अनेक भवों तक रहते हैं तथा मिथ्यादृष्टि भी हो जाते हैं।
- कुछ साधक ऐसे भी होते हैं, जिन्होंने सामान्य मुनि जीवन अर्थात् छठवें-सातवें गुणस्थान योग्य चारित्र को विकसित किया, फिर उनका वह चारित्र छूट गया और अविरत सम्यक्त्वी रह गये अथवा मिथ्यादृष्टि भी हो गये।
- कुछ साधक तो ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत पूर्ण वीतरागरूप चारित्र को प्राप्त करके यथाख्यात औपशमिक चारित्रवंत होते हैं और फिर पतित होकर मिथ्यात्वी भी हो जाते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान से पतित होकर संसार में ही कुछ काल पर्यंत अटक जाते हैं।

जैसे – भगवान महावीर के जीव ने शेर की पर्याय के पूर्व अनेक भवों के पहले सम्यक्त्व पाकर अर्द्धचक्रवर्तित्व एवं नारायण पद भी प्राप्त किया था। ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत विकास भी किया, फिर भी परम्परा से निगोदावस्था को प्राप्त किया था। ऐसे **उत्थान के बाद पतित होनेवाले जीव भी अनेक होते हैं। परिणामों की ऐसी ही विचित्रता है।**

- साधक मोक्ष जाने के पहले भावलिंगी मुनिपना अधिक से अधिक बत्तीस बार प्राप्त कर सकते हैं और उसके पश्चात् नियम से मुक्त हो जाते हैं।

- कुछ मुनिराज मोक्ष जाने के पहले-पहले चार बार उपशम श्रेणी मांड़कर औपशमिक चारित्रवंत हो जाते हैं और फिर नियम से क्षपक श्रेणी मांडकर मुक्त हो जाते हैं।
- कुछ साधक ऐसे भी होते हैं, जिन्होंने सम्यक्त्व के साथ सम्यक्चारित्र तो उत्पन्न किया फिर मिथ्यादृष्टि हो गये। तदनंतर मिथ्यात्व अवस्था में एक अन्तर्मुहूर्त कम अथवा चौदह उपअंतर्मुहूर्त कम अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल पर्यंत रहे। अन्तिम मनुष्यभव के अन्तिम एक अन्तर्मुहूर्त में ही औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्व, सम्यक्चारित्र, मुनिजीवन योग्य चारित्रपूर्वक क्षपक श्रेणी पर आरोहण कर पूर्ण चारित्र विकसित कर सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

६९. प्रश्न – ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत चारित्र विकसित होने के बाद भी उनका नीचे पतन होना और परंपरा से निगोद में भी गमन हो जाना – यह बात कुछ समझ में नहीं आती और योग्य भी नहीं लगता। एक बार मोक्षमार्ग प्राप्त हुआ तो सीधे भगवान बन जाना ही योग्य लगता है। यह सब उत्थान-पतन, फिर उत्थान एवं पूर्णता – ऐसा नहीं होना चाहिए। व्यर्थ ही दुःखी होते हुए क्यों अटके क्यों भटके?

उत्तर – हे भाई ! आप उत्थान अर्थात् विकास के बाद जब तक पूर्णता न हो, तब तक लगातार विकास ही विकास चाहते हो, यह आपकी भावना हमें समझ में आ गयी। आपकी भावना तो सर्वोत्तम है; किन्तु वस्तु-व्यवस्था अथवा जीव के मोहोदय के निमित्त पुरुषार्थ की हीनता/शिथिलता अथवा जीव का पुरुषार्थ मेरे-आपके विचार तथा अभिप्राय के अनुसार नहीं होता। वस्तु व्यवस्था जैसी है, वैसी ही हमें स्वीकृत होनी चाहिए।

जीव के विचार, परिणाम, भावों में सतत अनुकूल-प्रतिकूल परिवर्तन (शुभभाव, अशुभभाव, शुद्धभाव) होते ही रहते हैं; इसीलिए उत्थान-पतन, फिर उत्थान एवं पूर्णता ऐसा सब सहज है। हमें यह सहज/स्वाभाविक स्वरूप स्वीकृत न होने से ही हमारा संसार परिभ्रमण का दु:खद नाटक अनादि काल से चल रहा है।

स्वाभाविक वस्तुव्यवस्था जानना हमारा कर्तव्य है, उसे अच्छा-बुरा मानने की मिथ्या कल्पना से तो संसार ही बढ़ता है। जो जैसा है, उसे वैसा ही स्वीकारना, समझदारी का काम है।

अरहंतादि पंच-परमेष्ठी का अथवा जिनवाणी का हमें यही उपदेश है कि – अपने को वस्तु स्वरूप का तथा वस्तु व्यवस्था का परिज्ञान करके मात्र आपको ज्ञाता-दृष्टा रहना चाहिये। किसी भी परद्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता मत बनो। सुखी होने का सच्चा, सुगम, सहज, सरल एवं सर्वोत्कृष्ट तथा शाश्वत उपाय यह एक ही है।

श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र गुण के परिणमन को लेकर श्री स्वामीजी के विचार विशेष चिंतनीय है –

७०. "**प्रश्न** – कितने ही अज्ञानी **ऐसी शंका करते हैं** कि यदि जीव को सम्यग्दर्शन हुआ हो और आत्मा की प्रतीति हो गई हो तो उसे खाने-पीने इत्यादि का राग कैसे होता है?

उत्तर – ज्ञानी कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के राग हुआ तो इससे क्या?

उस राग के समय उसके निषेधक सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान होते हैं या नहीं? **जो राग होता है वह श्रद्धा-ज्ञान को मिथ्या नहीं करता।** ज्ञानी को चारित्र की कचास से राग होता है, वहाँ अज्ञानी उस राग को ही देखता है; परन्तु राग का निषेध करनेवाले श्रद्धा और ज्ञान को नहीं पहचानता।"[१]

---

१. सम्यग्दर्शन पृष्ठ-१९२-१९३

७१. प्रश्न – कदाचित् आप पूछ सकते हो कि हमें ज्ञाता-दृष्टा ही क्यों रहना है ?

उत्तर – अरे भाई ! हम आप मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हैं। हमारा-आपका स्वभाव ही ज्ञाता-दृष्टा रहने का है। ज्ञानी गुरू हमें अपने स्वरूप का ज्ञान करा रहे हैं। हम अपने विकल्प के अनुसार किसी में कुछ परिवर्तन कर ही नहीं सकते।

परपदार्थ में अपनी ओर से कुछ करने की भावना एवं कल्पना से ही हम अब तक दुःख भोग रहे हैं। गुरु हमें सत्य स्वरूप समझाना चाहते हैं तो भी हम अपनी हठाग्रहपूर्ण प्रवृत्ति छोड़ना ही नहीं चाहते तो अरहन्तदेव अथवा जिनवाणी माता भी क्या कर सकती है ?

श्रद्धागुण का सम्यक् परिणमन, चारित्रगुण का सम्यक् परिणमन तथा सम्यक् चारित्र का विकास एवं उसकी पूर्णता के विषय में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के विचार इसप्रकार हैं –

७२. "प्रश्न – जब श्रद्धा और चारित्र दोनों गुण स्वतंत्र हैं तब सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र सम्यक् नहीं होता, ऐसा क्यों होता है?

उत्तर – यह सच है कि गुण स्वतंत्र है; परन्तु श्रद्धा गुण से चारित्रगुण उच्च प्रकार का है। **श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र में विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता है। श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र विशेष पूज्य है; इसलिये पहले श्रद्धा के विकसित हुए बिना चारित्रगुण विकसित हो ही नहीं सकता।**

जिसमें श्रद्धा गुण के लिये अल्प पुरुषार्थ न हो उसमें चारित्र गुण के लिये अत्यधिक पुरुषार्थ कहाँ से हो सकता है? पहले सम्यक् श्रद्धा को प्रगट करने का पुरुषार्थ करने के बाद विशेष पुरुषार्थ करने पर चारित्रदशा प्रगट होती है।

श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र का पुरुषार्थ विशेष है, इसलिये पहले

श्रद्धा होती है, उसके बाद चारित्र होता है। इसलिये पहले श्रद्धा प्रगट होती है और फिर चारित्र का विकास होता है।

श्रद्धा गुण की क्षायिक श्रद्धारूप पर्याय होने पर भी ज्ञान और चारित्र में अपूर्णता होती है। इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु में अनंत गुण हैं और वे सब स्वतंत्र हैं; वही अन्यत्व भेद है।

ज्ञानी के चारित्र दोष के कारण राग-द्वेष होते हैं; तथापि उसे अन्तरंग में निरन्तर यह समाधान बना रहता है कि – यह राग-द्वेष पर वस्तु के परिणमन के कारण नहीं; किन्तु मेरे दोष से होते हैं, तथापि वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरी पर्याय में राग-द्वेष होने से पर में कोई परिवर्तन नहीं होता; ऐसी प्रतीति होने से ज्ञानी के राग-द्वेष का स्वामित्व नहीं रहता और ज्ञातृत्व का अपूर्व निराकुल संतोष हो जाता है।

केवलज्ञान होने पर भी अरिहन्त भगवान के प्रदेशत्व गुण की और ऊर्ध्वगमन स्वभाव की निर्मलता नहीं है; इसीलिये वे संसार में हैं। अघातिया कर्मों की सत्ता के कारण अरिहन्त भगवान के संसार हो; सो बात नहीं है; किन्तु अन्यत्व नामक भेद होने के कारण अभी प्रदेशत्व आदि गुण का विकार है; इसीलिये वे संसार में हैं।

जैसे – सम्यग्दर्शन होने पर चारित्र (पूर्ण) नहीं हुआ तो वहाँ अपने चारित्रगुण की पर्याय में दोष है, श्रद्धा में दोष नहीं। चारित्र सम्बन्धी दोष अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण है, कर्म के कारण वह दोष नहीं है।

इसीप्रकार केवलज्ञान के होने पर भी प्रदेशत्व सत्ता और योग सत्ता में जो विकार रहता है, उसका कारण यह है कि समस्त गुणों में अन्यत्व नामक भेद है।

प्रत्येक पर्याय की सत्ता स्वतंत्र है। द्रव्य-गुण की भी सत्ता स्वतंत्र है।

यदि प्रत्येक गुणसत्ता और पर्यायसत्ता के अस्तित्व को ज्यों का त्यों जाने तो ज्ञान सच्चा है।

निर्विकारी पर्याय अथवा विकारी पर्याय भी स्वतंत्र पर्यायसत्ता है। उसे ज्यों का त्यों जानना चाहिये। जीव, विकार भी पर्याय में स्वतंत्र रूप से करता है, उसमें भी अपनी पर्याय का दोष कारण है।

प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की सत्ता स्वतंत्र है, तब फिर कर्म की सत्ता आत्मा की सत्ता में क्या कर सकती है? कर्म और आत्मा की सत्ता में तो प्रदेश भेद स्पष्ट है। दो वस्तुओं में सर्वथा पृथक्त्व भेद है।

यहाँ यह बताया गया है कि **एक गुण के साथ दूसरे गुण का पृथक्त्व भेद न होने पर भी उनमें अन्यत्व भेद है।** इसलिये एक गुण की सत्ता में दूसरे गुण की सत्ता नहीं है।

प्रदेश भेद न होने से अभेद है और गुणगुणी की अपेक्षा से भेद है। कोई भी दो वस्तुयें लीजिये, उन दोनों में प्रदेशत्वभेद हैं; किन्तु एक वस्तु में जो अनन्त गुण हैं उन गुणों में एक दूसरे के साथ अन्यत्व भेद है, किन्तु पृथक्त्व भेद नहीं है।

इन दो प्रकार के भेदों के स्वरूप को समझ लेने पर अनंत परद्रव्यों का अहंकार दूर हो जाता है और पराश्रयबुद्धि दूर होकर स्वभाव की दृढ़ता हो जाती है। सच्ची श्रद्धा होने पर समस्त गुणों को स्वतंत्र मान लिया जाता है। पश्चात् समस्त गुण शुद्ध हैं, ऐसी प्रतीति पूर्वक जो विकार होता है उसका भी मात्र ज्ञाता ही रहता है।

अर्थात् उस जीव को विकार और भव के नाश की प्रतीति हो गई है। समझ का यही अपूर्व लाभ है। प्रवचनसार शास्त्र के ज्ञेय अधिकार में द्रव्य-गुण-पर्याय का वर्णन है। प्रत्येक गुण-पर्याय ज्ञेय हैं, अर्थात् अपने समस्त गुण-पर्याय का और अभेद स्वद्रव्य का ज्ञाता हो गया, यही सम्यग्दर्शन धर्म है।''[१]

---

१. सम्यग्दर्शन पृष्ठ १५६ से १५८

७३. प्रश्न – हमारे दिमाग में एक विचित्र एवं विशेष ही प्रश्न उत्पन्न हुआ है। हम इस प्रश्न को उपस्थित किए बिना बहुत आकुलित हैं, अतः हम पूछ ही लेते हैं। आप हमें समझाने का कष्ट करें।

जैसे सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही ज्ञान, चारित्र आदि सम्यक्रूप से तो परिणत हो जाते हैं; तथापि उनमें सिद्ध भगवान जैसी पूर्णता नहीं होती। **यदि सम्यक्त्व होते ही जीव को सिद्धावस्था की ही प्राप्ति हो जाय तो क्या बाधा है ?**

उत्तर – आपके प्रश्न से ऐसा लगता है कि सम्यक्त्व होते ही सिद्धावस्था प्राप्त तो हो सकती है, किन्तु हम ही उसे रोक रहे हैं।

श्रद्धा की सम्यक्त्वरूप पर्याय जिसतरह पूर्णता के साथ ही उत्पन्न होती है अर्थात् सम्यक्त्व की उत्पत्ति और उसकी पूर्णता – दोनों एक साथ ही होते हैं। उसीतरह **सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति और सिद्धावस्थायोग्य चारित्र एक साथ प्रगट होना चाहिए – ऐसा आपका विचार है। सम्यक्चारित्र की पूर्णता को आप क्रम से नहीं चाहते।**

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ ही यदि सिद्धावस्था की प्राप्ति होती है – ऐसा मान लिया जाय तो निम्न आपत्तियाँ आयेगी, जिनका निवारण करना संभव नहीं होगा।

१) जिन-जिन जीवों को सम्यक्त्व होगा, उन सबको सिद्धावस्था तत्काल मिलेगी अर्थात् नारकी, देव, भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंच, स्वयंभूरमण समुद्र में स्थित सभी तिर्यंचों को सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही तत्काल सिद्धावस्था की प्राप्ति होगी।

२) जन्म से जो स्त्री हैं, वे सम्यक्त्व प्राप्त करेंगे और स्त्री शरीर के साथ दिगंबर मुनि हुए बिना सिद्ध भी होते रहेंगे!

३) चौदह गुणस्थान के स्थान पर मात्र एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहेगा। अन्य गुणस्थानों की क्रमिक परिपाटी का अभाव ही हो जाएगा।

४) परमेष्ठी पाँच न रहकर एक सिद्ध परमेष्ठी ही रहेंगे।

५) अरहंत अवस्था प्राप्त न होने के कारण दिव्यध्वनि से उपदेश मिलना समाप्त हो जायेगा। अरहंत परमेष्ठी का अभाव होगा।

६) आचार्य, उपाध्याय व साधु अवस्था का अस्तित्व न रहने से तीनों परमेष्ठी नहीं रहेंगे। अरहंत तो रहेंगे ही नहीं। पंच णमोकार मंत्र भी 'णमो सिद्धाणं' इस एक पंक्ति का ही रहेगा।

७) कोई मुनिराज रहेंगे नहीं तो आहारदान देने का कार्य बंद हो जायेगा। चरणानुयोग का मानो अभाव ही हो जायेगा।

८) सम्यक्त्व होते ही सिद्ध बनने से सम्यक्त्वी अथवा व्रती श्रावक, मुनिराज एवं अरहंत द्वारा उपदेश की परंपरा ही नष्ट हो जायेगी। देशना एवं देशनालब्धि का भी अभाव हो जायेगा।

९) सम्यक्त्व होते ही सिद्ध होने से श्रावकव्रत एवं मुनिराज के व्रतों का कथन करने का कारण न रहने से व्रत, उपवास, परीषह, उपसर्ग, अतिचार आदि का अभाव ही हो जायेगा। व्यवहार चारित्र का सर्वथा लोप हो जायेगा।

१०) सम्यक्त्वी को तत्काल ही सिद्ध अवस्था प्राप्त होने से सम्यग्दृष्टि को होनेवाले पुण्य से चक्रवर्ती, कामदेव आदि महापुरुष के अलौकिक पदों की प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

११) सम्यग्दृष्टि को तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है, यह कार्य न होने से तीर्थंकर बनना असंभव होगा।

१२) सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण होते हैं, यह उपचरित कथन करना नहीं बनेगा; क्योंकि सम्यग्दृष्टि भोग भोगने के लिए रहेगा ही नहीं, वह तो मुक्त ही हो जायेगा।

१३) सम्यग्दृष्टि को स्त्री व नपुंसक पर्याय की प्राप्ति नहीं होती, इस आगम वचन की आवश्यकता नहीं रहेगी। यह आगम वचन व्यर्थ सिद्ध होगा।

१४) प्रथमानुयोग में इस जीव ने सम्यक्त्व के साथ जन्म लिया, इसतरह हजारों स्थानों पर आये हुए सर्व कथन असत्य सिद्ध होंगे।

१५) सम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावक एवं मुनिराज को भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार दसवें गुणस्थान पर्यंत साम्परायिक आस्रवपूर्वक नया कर्मबंध होता है, यह शास्त्र-वचन असत्य सिद्ध होगा।

१६) उपशम एवं क्षपक श्रेणी का सब कथन निरर्थक ठहरेगा।

१७) साधक व सिद्ध अवस्था – इन दोनों अवस्थाओं का भिन्न-भिन्न अस्तित्व नहीं रहेगा। इसकारण साधक अवस्था में मिश्र धारा (राग धारा व वीतराग धारा अथवा कर्मधारा व ज्ञानधारा) नहीं रहेगी।

साधक अवस्था का ही अभाव होगा अथवा साधकपना मात्र एक समय की अवस्था ही रहेगी।

१८) इस मिश्रधारा में एक ही काल में आस्रव-बंध तथा संवर-निर्जरा चारों तत्त्वों का अस्तित्व बना रहता है; सम्यक्त्व होते ही सिद्ध अवस्था होने से यह कार्य नहीं बन पायेगा।

१९) संवर व निर्जरा इन दोनों तत्त्वों का तथा मोक्ष का अस्तित्व ही नहीं रहेगा; सात तत्त्वों के स्थान पर जीव, अजीव, आस्रव एवं बंध – ये ४ ही तत्त्व रहेंगे।

२०) औपशमिक आदि सम्यक्त्व के काल की प्ररूपणा व्यर्थ सिद्ध होगी। प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व होता है, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, यह सब कथन व्यर्थ सिद्ध होगा।

२१) सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद सम्यक्त्व छूटने पर वह जीव अधिक से अधिक किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल तक संसार में रुलता है; यह आगम-कथित नियम व्यर्थ सिद्ध होगा।

२२) नौ अनुदिश तथा पंच अनुत्तर विमानों में मात्र सम्यग्दृष्टि जन्मते हैं, यह कथन असत्य होगा। अथवा उन स्वर्गों का अभाव मानना होगा।

२३) दिगम्बर अवस्था से ही मुक्ति-प्राप्ति का नियम नहीं रहेगा, सवस्त्र मुक्ति होती रहेगी।

गृहस्थ भी मुक्त होते रहेंगे।

२४) अन्तरंग एवं बहिरंग तप का अस्तित्व नहीं रहेगा।

२५) अरहंत अवस्था का अभाव होने से उपसर्ग केवली आदि केवलियों के भेद भी नहीं रहेंगे।

२६) दिव्यध्वनि का अभाव मानने से गणधर की आवश्यकता नहीं रहेगी। सम्यग्दृष्टि एवं मुनिराज का भी उपदेश देने रूप कार्य नहीं रहेगा; क्योंकि वे तत्काल सिद्ध ही बनेंगे, उपदेश देने के लिए संसार में निवास बनेगा ही नहीं।

२७) असंख्यात गुणी निर्जरा का कथन भी नहीं बनेगा।

२८) मोक्षमार्ग की साधक अवस्था में होनेवाले भिन्न साध्य-साधन और अभिन्न साध्य-साधन का अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि मोक्षमार्ग और मोक्ष एक ही समय में मान लिया गया।

सम्यक्त्व प्राप्त होते ही मुक्ति मानने से मोक्षमार्ग के लिए समय ही नहीं रहेगा।

७४. प्रश्न – सम्यक्त्व होते ही तत्काल अर्थात् उसी समय सिद्ध अवस्था होती है; ऐसा मानने पर आपने अनेक उपर्युक्त आपत्तियाँ बताई। आप और भी आपत्तियाँ बता सकते हो क्या? हम समझना चाहते हैं।

उत्तर – सम्यक्त्व होते ही तत्काल सिद्ध अवस्था होती है; ऐसा मानने पर और भी अनेक आपत्तियाँ आती हैं, वे इसप्रकार हैं –

१) यदि सम्यक्त्व होते ही सिद्ध होना मानेंगे तो जीव को मात्र औपशमिक सम्यक्त्व ही होगा; अन्य दोनों सम्यक्त्वों का अभाव मानना पड़ेगा।

२) चत्तारि मंगलं आदि पाठ असत्य सिद्ध होंगे।

३) दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय के साथ ही चारित्रमोहनीय तथा अन्य तीन घातिकर्म एवं चारों अघाति कर्मों का नाश मानना अनिवार्य सिद्ध होगा।

अथवा

आठ कर्मों के स्थान पर मात्र एक ही दर्शनमोहनीय कर्म मानना आवश्यक रहेगा। दर्शनमोहनीय कर्म के तीनों भेदों का कथन भी असत्य सिद्ध होगा।

४) तीनों सम्यक्त्व में से सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्व ही होता है, यह आगमोक्त नियम नहीं रह पायेगा।

५) क्षयोपशम ज्ञानपूर्वक ही सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी; केवलज्ञान की अनिवार्यता नहीं रहेगी।

६) सम्यक्त्व एवं व्रतों के अतिचारों का सर्वथा अभाव होगा।

७) तत्त्वार्थसूत्र और अन्य आगम ग्रन्थों में **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** ऐसा जो सूत्र है, वह असत्य होने से **सम्यग्दर्शनम् मोक्षमार्गः** ऐसा बदल करना पड़ेगा।

इसप्रकार अनेक आपत्तियाँ आयेगी, अतः **चारित्र गुण का सम्यक् परिणमन होने के बाद चारित्र की पूर्णता के लिए उसमें क्रमिक विकास मानना आवश्यक ही है। वास्तविक जो वस्तुस्थिति है, उसे वैसा ही मानना चाहिए।**

७५. प्रश्न – फिर भी मन में प्रश्न उत्पन्न होता ही है कि चारित्र का विकास एवं पूर्णता क्रम से ही क्यों होती है ?

उत्तर – भाई ! चारित्र गुण के सम्यक्पर्याय का विकास एवं पूर्णता क्रम से ही होती है; यह चारित्रगुण की पर्यायगत विशेषता है; उसमें कौन क्या कर सकता है? स्वभाव में प्रश्न नहीं होते। पानी शीतल क्यों है ? अग्नि गरम क्यों है ? गन्ने का रस मीठा क्यों है ? करेला कड़वा क्यों है ? – क्या ऐसे भी प्रश्न करना उचित है ?

हम आपसे पूछते हैं – कपड़े को पानी में डालते ही वह कुछ सैकण्डों में गीला हो जाता है, क्या वही गीला कपड़ा उतने ही अल्प काल में सूख जायेगा ? भले कितनी भी गरमी हो, नहीं सूखेगा; क्योंकि कपड़े का गीला होना तत्काल होता है और गीले कपड़े को सूखने के लिए देर लगती ही है। यह स्वभावगत विशेषता है। अन्य दृष्टान्त भी देखें –

मनुष्य शरीर में जन्म से ही जिह्वा/जीभ प्राप्त होती है और दाँत जन्म से तो रहते नहीं है। जन्म के पश्चात् ११-१२ महिने के बाद दाँत आते हैं। उसे दूध के दाँत कहते हैं। वे भी निकल जाते हैं, फिर जीवनभर के लिए दाँत आते हैं। सामान्यतया २०-२१ वर्ष की उम्र में अक्लदाढ़ आती है। कदाचित् दाँत वृद्धावस्था के पहले भी गिर जाते हैं, लेकिन जीभ अन्त तक रहती है। जीभ एवं दाँत का ऐसा स्वरूप क्यों है ? उसका उत्तर शरीरगत स्वभाव ही मानना आवश्यक है।

- **उसीतरह श्रद्धा गुण की सम्यक्त्वरूप पर्याय की उत्पत्ति एवं उसकी पूर्णता एकसाथ ही होती है।**
- **१३वें गुणस्थान में ज्ञान गुण की पर्याय की पूर्णता होती है।**
- **बारहवें गुणस्थान में चारित्र पूर्ण (भाव चारित्र) प्रगट होता है। सिद्ध अवस्था में द्रव्यचारित्र की पूर्ण अवस्था प्रगट होती है। यही इन तीनों गुणों के पूर्ण पर्याय प्रगट होने का स्वरूप है।**

सम्यक्चारित्र की पूर्ण विकसित अवस्था एवं उत्पाद-व्यय-

ध्रौव्यात्मक वस्तुव्यवस्था को लेकर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के विचार हम आगे दे रहे हैं –

''चारित्र की शुद्धता एकसाथ संपूर्ण प्रगट नहीं हो जाती; किन्तु क्रमशः प्रगट होती है। जबतक शुद्ध दशा अपूर्ण रहती है, तबतक साधकदशा कहलाती है।

७६. प्रश्न – शुद्धता कितनी प्रगट होती है?

उत्तर – पहले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से जो आत्मस्वभाव प्रतीति में आया है, उस स्वभाव की महिमा के द्वारा वह जितने बलपूर्वक स्वद्रव्य में एकाग्रता करता है, उतनी ही शुद्धता प्रगट होती है।

शुद्धता की प्रथम सीढ़ी शुद्धात्मा की प्रतीति अर्थात् सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बाद पुरुषार्थ के द्वारा क्रमशः स्थिरता को बढ़ाकर अन्त में पूर्ण स्थिरता के द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रगट करके मुक्त हो जाता है। सिद्धदशा में अक्षय अनन्त आत्मसुख का अनुभव करता है।

मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का ही यह फल है।

७७. प्रश्न – द्रव्य त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है, उसका कभी नाश नहीं होता और वह कभी भी दूसरे द्रव्यों में नहीं मिल जाता, इसका क्या आधार है? ऐसा क्यों विश्वास किया जाय?

हम देखते हैं कि दूध इत्यादि अनेक वस्तुओं का नाश हो जाता है; अथवा दूध (वस्तु) मिटकर दही (वस्तु) बन जाता है, तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं मिलता?

उत्तर – वस्तुस्वरूप का ऐसा सिद्धान्त है कि जो वस्तु है, उसका कभी भी नाश नहीं होता, और जो वस्तु नहीं है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती तथा जो वस्तु है उसमें रूपान्तर होता रहता है। अर्थात् स्थिर रहकर बदलना (Parmanency with a change) (और बदलकर भी स्थिर रहना) वस्तु का स्वरूप है।

शास्त्रीय भाषा में इस नियम को **''उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्''** के रूप में कहा गया है। **उत्पाद-व्यय का अर्थ है अवस्था** (पर्याय) का रूपान्तर और **ध्रौव्य का अर्थ है वस्तु का स्थिर रहना** – यह द्रव्य का स्वभाव है।

द्रव्य और पर्याय के स्वरूप में यह अन्तर है कि द्रव्य त्रिकाल स्थिर है, वह बदलता नहीं है; किन्तु पर्याय क्षणिक है, वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। पर्याय के बदलने पर भी द्रव्य का नाश नहीं होता। द्रव्य अपने स्वरूप में त्रिकाल स्थिर है, इसलिये वह दूसरे में कभी नहीं मिलता। इसे अनेकान्तस्वरूप कहा जाता है। अर्थात् वस्तु अपने स्वरूप से है और दूसरे स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है।

जैसे – लोहा, लोहे के स्वरूप की अपेक्षा से है; किन्तु वह लकड़ी के स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है। जीव, जीवस्वरूप से है; किन्तु वह जड़स्वरूप से नहीं है। ऐसा स्वभाव है इसलिये कोई वस्तु अन्य वस्तु में नहीं मिल जाती; किन्तु सभी वस्तुयें अपने-अपने स्वरूप से भिन्न ही रहती हैं।

जीव, अपने वस्तुस्वरूप से स्थिर रहकर पर्याय की अपेक्षा से बदलता रहता है; किन्तु जीव, जीवरूप में ही बदलता है।

जीव की अवस्था बदलती रहती है। इसीलिये संसारदशा का नाश करके सिद्ध दशा हो सकती है। अज्ञानदशा का नाश करके ज्ञानदशा हो सकती है।

जीव नित्य है, इसलिये संसारदशा का नाश हो जाने पर भी वह मोक्षदशारूप में स्थिर बना रहता है। इसप्रकार **वस्तु को द्रव्य अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य समझना चाहिये।**

परमाणु में भी उसकी अवस्था बदलती है; किन्तु किसी वस्तु का नाश नहीं होता। दूध इत्यादि का नाश होता हुआ दिखता है; किन्तु वास्तव में वह वस्तु का नाश नहीं है।

दूध कहीं मूल वस्तु नहीं है; किन्तु वह तो बहुत से परमाणुओं की स्कन्धरूप अवस्था है और वह अवस्था बदलकर अन्य दही इत्यादि अवस्थारूप हो जाती है, किन्तु उसमें **परमाणु-वस्तु तो स्थिर बनी ही रहती है।**

दूध बदलकर दही हो जाता है, इसलिये वस्तु अन्यरूप नहीं हो जाती। **परमाणु वस्तु है वह तो सभी अवस्थाओं में परमाणुरूप ही रहती है।** वस्तु कभी भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती। श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्मसिद्धि छंद ७० में कहा है –

क्यारे कोई वस्तुनो, केवल होय न नाश।
चेतन पामे नाश तो, केमां मळे तपास?॥

जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु का कभी सर्वथा नाश नहीं होता। यदि ज्ञानस्वरूप चेतन वस्तु नाश को प्राप्त हो तो वह किसमें जाकर मिलेगी? चेतन का नाश होकर क्या वह जड़ में घुस जाता है? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इसलिये यह स्पष्ट है कि चेतन सदा चेतनरूप परिणमित होता है और जड़ सदा जड़रूप परिणमित होता है; किन्तु वस्तु का कभी नाश नहीं होता।

पर्याय के बदलने पर वस्तु का नाश मान लेना अज्ञान है; और यह मानना भी अज्ञान है कि वस्तु की पर्याय को दूसरा बदलवाता है।

वस्तु कभी भी बिना पर्याय के नहीं होती, और पर्याय कभी भी वस्तु के बिना नहीं होती।

जो अनेक प्रकार की अवस्थायें होती हैं, वे नित्य स्थिर रहनेवाली वस्तु के बिना नहीं हो सकती। यदि नित्य स्थिर रहने वाला पदार्थ न हो तो अवस्था कहाँ से आये?

दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि सब अवस्थायें हैं, उसमें नित्य स्थिर रहने वाली मूल वस्तु परमाणु है। दूध इत्यादि पर्याय है, इसलिये

वह बदल जाती है; किन्तु किसी भी अवस्था में परमाणु अपने परमाणुपन को नहीं छोड़ता, क्योंकि वह वस्तु है – द्रव्य है।

- द्रव्य का अर्थ है वस्तु।
- वस्तु की वर्तमान अवस्था को पर्याय कहते हैं।
- द्रव्य अंशी (संपूर्ण वस्तु) है और पर्याय उसका एक अंश है।
- अंशी को सामान्य कहते हैं और अंश को विशेष कहते हैं।
- इस सामान्य-विशेष को मिलाकर वस्तु का अस्तित्व है।
- सामान्य-विशेष के बिना कोई सत् पदार्थ नहीं होता।
- सामान्य ध्रुव है और विशेष उत्पाद-व्यय हैं – "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्"।
- जो वस्तु एक समय में है, वह वस्तु त्रिकाल है; क्योंकि वस्तु का नाश नहीं होता; किन्तु वस्तु का रूपान्तर होता है।
- वस्तु अपनी शक्ति से (सत्ता से-अस्तित्व से) स्थिर रहती है, उसे कोई पर वस्तु सहायक नहीं होती।
- यदि इसी नियम को सरल भाषा में कहा जाये तो – **एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता।**

७८. प्रश्न – यह सब किसलिए समझना चाहिये?

उत्तर – अनादिकाल से चले आ रहे अनन्त दुःख के नाश के लिए एवं महापापरूप मिथ्यात्व को दूर करने के लिए यह सब समझना आवश्यक है। यह समझ लेने पर आत्मस्वरूप की यथार्थ पहिचान हो जाती है और सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तथा सच्चा सुख प्रगट हो जाता है; इसलिये इसे भलीभाँति समझने का प्रयत्न करना चाहिए।"[१]

७९. प्रश्न – साधक जीवन में मिश्रधारा होती है, ऐसा आपने बताया; इसके लिए कुछ शास्त्र-आधार भी हैं क्या ?

---

१. सम्यग्दर्शन पृष्ठ २१७-२२१

उत्तर – हाँ ! हाँ !! शास्त्र का आधार भी हैं, वह आधार हम आपके सामने तत्काल प्रस्तुत भी करेंगे। शास्त्र के आधार बिना हम कुछ भी कथन नहीं करते हैं।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र के सातवें अध्याय के पृष्ठ क्रमांक २२८ पर संवरतत्त्व के अन्यथारूप प्रकरण में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है, वह इसप्रकार है –

८०. "**प्रश्न** – मुनियों के एक काल में एक भाव होता है, वहाँ उनके बन्ध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होते हैं, सो किस प्रकार है ?

उत्तर – वह भाव मिश्ररूप है। कुछ वीतराग हुआ है, कुछ सराग रहा है। जो अंश वीतराग हुआ उससे संवर है और जो अंश सराग रहा उससे बन्ध है।"[१]

आचार्य अमृतचन्द्र रचित आत्मख्याति टीका में कलश ११० द्वारा मिश्रधारा का विवेचन बहुत स्पष्टरूप से किया है। अत: आगे मूल संस्कृत कलश रूप काव्य, उसका डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल कृत हिंदी पद्यानुवाद एवं पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित अर्थ एवं भावार्थ – सब दे रहे हैं, जिससे आपकी शंका का समाधान हो जायेगा।

(शार्दूलविक्रीडित)

"यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षति:।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वत:॥

(हरिगीत)

यह कर्मविरति जबतलक ना पूर्णता को प्राप्त हो।
हाँ, तबतलक यह कर्मधारा ज्ञानधारा साथ हो॥
अवरोध इसमें है नहीं पर कर्मधारा बंधमय।
मुक्तिमारग एक ही है, ज्ञानधारा मुक्तिमय॥

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-२२८

अर्थ – जबतक ज्ञान की कर्मविरति भलीभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं हो, तबतक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है; उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मा में अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह तो बन्ध का कारण है और जो एक परम ज्ञान है, वह मोक्ष का कारण है – जो कि स्वतः विमुक्त है अर्थात् तीनों काल परद्रव्य-भावों से भिन्न है।

भावार्थ – जबतक यथाख्यात चारित्र (प्रगट) नहीं होता तबतक सम्यग्दृष्टि की दो धाराएँ रहती हैं – शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई विरोध भी नहीं है। (जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के परस्पर विरोध है, वैसे कर्मसामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है।) ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है।

जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प, व्रत-नियम के विकल्प अथवा शुद्ध-स्वरूप का विचार तक भी कर्मबन्ध का कारण है, शुद्ध परिणतिरूप (शुद्धोपयोग) ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।"

इस विषय पर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का विशेष विवेचन पढ़ना चाहिए, जो प्रवचन रत्नाकर में छप चुका है। कलशामृत भाग-४ गुजराती भाषा में भी इस ११० कलश पर अधिक विस्तारपूर्वक खुलासा आया है।

पण्डित दीपचन्दजी कृत अनुभव प्रकाश ग्रंथ में मिश्रधर्म अधिकार है, उस पर भी श्री स्वामीजी के हिन्दी भाषा में प्रवचन उपलब्ध हैं। जिज्ञासु इन सबका अध्ययन अवश्य करें।[१]

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा नामक एक किताब जो टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित हुई है।

इस विषय का ही विस्तृत विवेचन पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ के श्लोक २१२ से २१४ में भी है। मूल श्लोक, अर्थ एवं भावार्थ इसप्रकार है –

"येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

अर्थ – इस आत्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, उतने अंश में कर्मबन्ध नहीं है तथा जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है।

भावार्थ – जीव के तीन भेद हैं – १. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा, ३. परमात्मा। इन तीनों में से बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसके सम्यग्दर्शन नहीं है, केवल रागभाव ही है; अत: सर्वथा बन्ध ही है।

परमात्मा भगवान, जिनके पूर्ण सम्यग्दर्शन हो गया है, उनके रागभाव के अत्यन्त अभाव होने के कारण सर्वथा बन्ध नहीं है, मोक्ष ही है।

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक है, इसलिये इस अन्तरात्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन हो गया है, उतने अंश में कर्म का बंध नहीं है।

चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी रागभाव नहीं है तो उतना कर्मबन्ध भी नहीं है, शेष अप्रत्याख्यानावरणादि तीन का बन्ध है।

पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यान-रूप रागभाव का अभाव हुआ है, अत: उसका भी बंध रुक गया; परन्तु प्रत्याख्यानावरणादि दो का बन्ध अभी भी शेष है।

छठवें-सातवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणादि सम्बन्धी रागभाव नष्ट हुआ, तब उतना बन्ध भी मिट गया है।

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

अर्थ – जितने अंश में जीव के सम्यग्ज्ञान हो गया है, उतने ही अंश

में रागभाव का अभाव होने के कारण कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्मों का बंध है।

भावार्थ – मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव के सम्यग्ज्ञान का अभाव है और मिथ्याज्ञान का सद्भाव है, इसलिये उनको पूर्ण राग-द्वेष विद्यमान होने से उनके अवश्य ही कर्म-बन्ध होता है।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती परमात्मा को पूर्ण सम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रगट हो जाने के कारण राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो गया है, अतः उनके कर्मबन्ध बिल्कुल नहीं है।

अन्तरात्मा, जो अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक है, उसके जितने अंश में सम्यग्ज्ञान प्रगट होकर जितने अंश में राग-द्वेष मिटता जाता है, उतने ही अंश में कर्मबन्ध भी नहीं है तथा जितने अंश में राग-द्वेष विद्यमान है, उतने अंश में कर्मबन्ध भी होता रहता है।

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

अर्थ – जितने अंश में सम्यक्चारित्र प्रगट हो गया है, उतने ही अंश में कर्मबन्ध नहीं है और जितने अंश में राग-द्वेषभाव हैं, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है।

भावार्थ – बहिरात्मा के मिथ्याचारित्र है, सम्यक्चारित्र रंचमात्र भी नहीं है; अतः उसके राग-द्वेष की पूर्णता होने से पूर्ण कर्म का बन्ध है और परमात्मा के पूर्ण सम्यक्चारित्र होने के कारण रंचमात्र भी कर्म का बन्ध नहीं है।

अन्तरात्मा के जितने अंश में राग-द्वेषभाव का अभाव है, उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग-द्वेष है, उतने अंश में कर्म का बन्ध है।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं – दर्शनमोह, चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है और चारित्रमोह के उदय से मिथ्याचारित्र अथवा अचारित्र होता है।

चारित्र के भी दो भेद हैं – १) स्वरूपाचरण चारित्र २) संयमाचरण चारित्र। इनमें से जघन्य स्वरूपाचरण चारित्र तो चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता ही है तथा संयमाचरण चारित्र के दो भेद हैं – एकदेश और सकलदेश।

पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक के तो एकदेश चारित्र हैं और छठवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मुनिराज के सकलदेश चारित्र हैं तथा तेरहवें गुणस्थान में पहुँचने पर वही मुनिराज जिनराज बन गये और परमात्मा कहलाये। वहाँ उनके सम्यक्चारित्र की पूर्णता होकर बन्ध का अभाव हो गया है।

जितना-जितना उन कषायों का अभाव होता जाता है, उतना-उतना ही उसके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्र गुण का विकास होता जाता है।

जैसे कि दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर सम्यग्दर्शन होता है और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का अभाव होने पर उतने अंश में स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी का अभाव होने से देशचारित्र प्रगट होता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी का अभाव होने से सकलचारित्र प्रगट होता है।

संज्वलन कषाय चौकड़ी और नव नोकषाय का अभाव होने से यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है। – इसतरह इस मोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियाँ ही जीव को राग-द्वेष होने में निमित्त कारण हैं।

उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान, अप्रत्याख्याना-वरण क्रोध-मान, ये आठ और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये बारह प्रकृति तो द्वेषरूप परिणमन में निमित्त हैं तथा शेष तेरह प्रकृतियाँ रागरूप परिणमन में निमित्त हैं।

इसप्रकार अनादिकाल से यह जीव इन्हीं २५ कषायों के वशीभूत होकर नित्य अनेक दुष्कर्म करता हुआ संसार सागर में भ्रमण कर रहा है। अतः आठों कर्मों में इस मोहनीय कर्म को सर्वप्रथम जीतना चाहिये।

जब तक मोहनीयकर्म का पराजय न हो, तब तक शेष कर्मों का पराजय हो ही नहीं सकता। इसलिये सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करके दर्शनमोह का, सम्यग्ज्ञान से ज्ञानावरण का और सम्यक्चारित्र से (अर्थात् वीतरागता से) चारित्रमोहनीय का नाश करके सम्यक्रत्नत्रय प्राप्त करना चाहिये।

जब कोई भी जीव इसी क्रम से कर्मों का नाश करके आत्मा के गुणों का विकास करेगा, तभी वह अपने ध्येय को प्राप्त कर सकेगा।"[१]

इसी विषय को समझने के लिए आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचन का अंश हम आगे दे रहे हैं –

"जिसप्रकार राजमार्ग की सीधी सड़क के बीच में काँटे-कंकड़ नहीं होते; उसीप्रकार मोक्ष का यह सीधा व स्पष्ट राजमार्ग, उसके बीच में राग की रुचिरूपी काँटे-कंकड़ नहीं हो सकते। सन्तों ने शुद्धपरिणतिरूप राजमार्ग से मोक्ष को साधा है और वही मार्ग जगत को दर्शाया है।

८१. प्रश्न – यह राजमार्ग है तो दूसरा कोई ऊबड़-खाबड़ मार्ग भी तो होगा न?

उत्तर – ऊबड़-खाबड़ मार्ग भी राजमार्ग से विरुद्ध नहीं होता।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पृष्ठ १९१-१९३

राजमार्ग पूर्व की तरफ जाता हो और ऊबड़-खाबड़ मार्ग पश्चिम की तरफ जाता हो – ऐसा तो नहीं बनता। भले मार्ग ऊबड़-खाबड़ हो, परन्तु उसकी दिशा तो राजमार्ग की तरफ ही होगी न?

उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान उपरान्त शुद्धोपयोगी चारित्रदशा – वह तो मोक्ष का सीधा राजमार्ग है, उससे तो उसी भव में ही केवलज्ञान और मोक्षपद प्राप्त हो सकता है और ऐसी चारित्रदशा बिना जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, वह अभी अपूर्ण मोक्षमार्ग होने से ऊबड़-खाबड़ कहा जाता है, वह कुछ ही भव में मोक्षमार्ग पूर्ण करके मोक्ष को साधेगा।

पूर्ण मोक्षमार्ग हो अथवा अपूर्ण मोक्षमार्ग हो, परन्तु इन दोनों की दिशा तो स्वभाव तरफ की ही है; एक की भी दिशा राग की तरफ नहीं है।

रागादिभाव तो मोक्षमार्ग से विपरीत है अर्थात् बन्धमार्ग है, इन रागादि से मोक्षमार्ग नहीं सध सकता। मोक्षमार्ग के आश्रय से बन्धन नहीं और बन्धमार्ग के आश्रय से मोक्ष नहीं।''[१]

उपसंहार एवं लाभ

इस विषय का विशद ज्ञान करने के लिए जिनधर्म-प्रवेशिका (पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित) नामक कृति में अगुरुलघुत्व गुण नामक सामान्य गुण का अंश भी हम आगे दे रहे हैं–

८२. ''**प्रश्न** – अगुरुलघुत्व गुण किसे कहते है ?

उत्तर – जिस शक्ति के कारण द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता और द्रव्य में रहने वाले अनन्त गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं हो जाते; उसे अंगुरुलघुत्व गुण कहते हैं।

८३. ''**प्रश्न** – अगुरुलघुत्व शब्द का क्या अर्थ है ?

---

१. 'परमार्थ वचनिका' प्रवचन पृष्ठ ७०-७१

उत्तर – अ = नहीं, गुरु = बड़ा, लघु = छोटा। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने में पूर्ण होता है, छोटा-बड़ा नहीं।

८४. प्रश्न – अगुरुलघुत्व गुण न मानने से क्या हानि होगी ?

उत्तर – अगुरुलघुत्व गुण न मानने से द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता के नाश हो जाने का प्रसंग आयेगा।

८५. प्रश्न – अगुरुलघुत्व गुण को जानने से हमें क्या-क्या लाभ होते हैं ?

उत्तर – अगुरुलघुत्व गुण को जानने से हमें अनेक लाभ होते हैं, वे निम्नप्रकार हैं –

१. विश्व का प्रत्येक द्रव्य, द्रव्य का प्रत्येक गुण और गुण की प्रत्येक पर्याय अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्, अहेतुक एवं निरपेक्ष है; इस तरह वस्तु-व्यवस्था का स्पष्ट एवं पक्का निर्णय होता है।

२. प्रत्येक वस्तु का द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव भिन्न-भिन्न ही होने से एक वस्तु का अन्य वस्तु से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं अर्थात् प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र ही है; ऐसा वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है।

३-४. एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं होता अर्थात् जीव द्रव्य पुद्गलादि अन्य द्रव्यरूप नहीं परिणमते; बदलते नहीं है। अथवा एक जीव द्रव्य दूसरे जीव द्रव्यरूप भी नहीं परिणमता। जीवद्रव्य, जीवद्रव्यरूप ही है और पुद्गलादि द्रव्य पुद्गलादि रूप ही रहते हैं। जैसे – शरीर (पुद्गल) कभी भी जीवरूप नहीं बदलता। टी.वी., टेपरिकार्डर, रेडियो कभी भी जीव नहीं होते। लक्ष्मण का जीव राम के जीवरूप नहीं हो सका – ऐसा जानने से कर्त्ताबुद्धि का नाश होता है।

५. प्रत्येक गुण की पर्याय अर्थात् कार्य, भिन्न-भिन्न ही होने से एक ही द्रव्य में रहने वाले एक गुण की पर्याय, उसी द्रव्य में रहने वाले अन्य गुण की पर्याय से कथंचित् पूर्ण स्वतंत्र ही है; ऐसा निर्णय होता है।

६-७. श्रद्धा गुण की पर्याय क्षायिक सम्यक्त्वरूप (सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व समान) पूर्ण निर्मल होने पर भी साधक जीव के ज्ञान और

चारित्र गुण की पर्यायें अपूर्ण-अविकसित रहती हैं। इसी कारण से श्रावक एवं साधु के अनेक गुणस्थान होते हैं; यह विषय हमें अगुरुलघुत्व गुण से ही स्पष्ट होता है।

८. श्रद्धा की पर्याय चौथे गुणस्थान में, ज्ञान की पर्याय तेरहवें गुणस्थान में एवं चरित्र की पर्याय सिद्ध अवस्था में परिपूर्ण निर्मल होती है; ऐसा पक्का ज्ञान होता है।

९. भावलिंगी मुनिराज भूमिका के योग्य क्रोधादि कषायरूप परिणत होते हुए भी उनका भावलिंगपना सुरक्षित रहता है और श्रावक पूजादि शुभ कार्य करते समय अथवा युद्धादि अशुभ कार्य करते समय भी उसका साधकपना यथायोग्य बना रहता है; यह विषय समझ में आता है।

१०. द्रव्य अर्थात् वस्तु और गुणों का द्रव्य, क्षेत्र एवं काल एक ही होने से द्रव्य में से गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं होते। जैसे – डिब्बे में भरे हुए गेहूँ डिब्बे से बिखरकर अलग-अलग हो जाते हैं; वैसे जीव द्रव्य में से ज्ञानादि गुण, अथवा पुद्गल में से स्पर्शादि गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं होते हैं।

११. जीव-पुद्गलादि द्रव्य में ज्ञानादि या स्पर्शादि गुण जितने और जैसे हैं, वे उतने और वैसे के वैसे ही बने रहते हैं; न हीनाधिक होते हैं और न उनका अभाव होता है।''[१]

८६. प्रश्न – एक जीव में स्थित श्रद्धा गुण का क्षायिक सम्यक्त्वरूप पूर्ण एवं निर्मल परिणमन उसी जीव में स्थित ज्ञान तथा चारित्र गुण के परिपूर्ण परिणमन करने में कुछ उपयोगी नहीं है – क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय, ज्ञान तथा चारित्र के पूर्ण परिणमन में कार्य नहीं कर सकती, यह जिसतरह आपने व्यवस्थित सिद्ध करके दिखाया।

उसीतरह पुद्गल द्रव्य के एक गुण का परिणमन उसी पुद्गल के दूसरे गुण के परिणमन में अकिंचित्कर है; कृपया इसे भी समझाइयें।

---

१. जिनधर्म-प्रवेशिका, पृष्ठ ३८, ४०

उत्तर – सुनो, समझो ! द्रव्य, गुण, पर्याय में परस्पर कथंचित् स्वतंत्रता है, यह तो वस्तु-व्यवस्था का प्राण है। इसलिए हम पुद्गल के सम्बन्ध में भी यह स्वतन्त्रता स्पष्ट कर सकते हैं –

एक कच्चा आम है। उसे जितना बड़ा होना था उतना तो वह बड़ा हो गया है। अब उसे पीला एवं मीठा होना ही बाकी है – अर्थात् उसे अब मात्र पकना है। घास में डालकर भी उसे पका सकते हैं अथवा वातावरण की गरमी से भी वह स्वयं धीरे-धीरे पकते हुए पीला होता जायेगा, मीठा भी होता रहेगा एवं मुलायम भी होगा।

स्पर्श में कठोरता के स्थान पर मृदु होगा, खट्टे रस के स्थान पर मीठा रस बनेगा, कच्चे आम की गंध एवं मीठे आम की गंध में भी विशिष्ट बदल तो होता ही है, भले ही हम उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर पायेंगे। हरे रंग का परिणमन भी पीलेपन में होता है, इत्यादि सामान्य कथन हुआ।

यहाँ हम पाठकों से पूछना चाहते हैं कि स्पर्श, कठोरता के स्थान पर मुलायम हो गया; हरा रंग भी जितना पीला होना सहज संभव था उतना हुआ, गंध में भी जो बदल होना था, वह हुआ। अब प्रश्न यह है कि क्या आम के रस को मीठा भी होना अनिवार्य है अथवा वह खट्टा भी रह सकता है ?

आप कहोगे, खट्टा भी रह सकता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि स्पर्श की मृदुता, वर्ण का पीलापन और विशिष्ट गंध का होना – ये तीनों (स्पर्श, वर्ण एवं गंध गुणों की पर्यायें) मिलकर भी खट्टे रस को मीठा बनाने में असमर्थ ही रहे।

अथवा यह भी हो सकता है कि आम का रंग अपेक्षित पीला न हो और आम मीठा हो जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक गुण का परिणमन अपने-अपने में स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है।

जहाँ एक ही जीव अथवा एक ही पुद्गल द्रव्य के एक गुण का परिणमन अन्य गुण के परिणमन में कुछ भी परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है, वहाँ हम-आप अन्य जीव द्रव्य की अनुकूल-प्रतिकूल पर्याय में परिवर्तन कर सकें यह कैसे सम्भव है ? अर्थात् असम्भव ही है।

संक्षेप में मूलत: यह समझना आवश्यक है कि कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य जीव अथवा पुद्गल में अपनी ओर से कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता।

८७. **प्रश्न** – आपके इस समग्र कथन से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर – १) वस्तु व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान अर्थात् – द्रव्य, गुण, पर्याय की स्वतन्त्रता का ज्ञान हो जाता है।

२) अव्रती सम्यग्दृष्टि के जीवन की जिन-जिन घटनाओं से जब हम आशंकित तथा भ्रमित हो जाते हैं एवं अंदर ही अंदर मानसिकरूप से अस्वस्थ होते हैं, तब हमें उन सब शंकाओं का समाधान मिल जाता है।

जैसे – चक्रवर्ती भरत और बाहुबली का युद्ध, मधु राजा का पापाचार और उसी भव में मुक्ति की प्राप्ति, राम-लक्ष्मण के आपस का बंधु प्रेम, राजा पवनकुमार का सती अंजना के साथ उपेक्षा सहित व्यवहार, तदनन्तर एकदम अति रागरूप कार्य आदि।

३) व्रती श्रावक के जीवन में भी अघटित ऐसी अनेक घटनाएँ घटित हो जाती हैं, उनका भी समाधान मिलता है, जैसे – सेठ सुदर्शन, मुनिराज विष्णुकुमार, मुनिराज श्रुतसागर तथा आचार्य श्री अकम्पन जैसे महापुरुषों के जीवन की घटनाओं से हम चंचल-चित्त नहीं होते।

४) गजकुमार, सुकौशल आदि मुनिराजों के पूर्वकालीन जीवन से कुछ आश्चर्य महसूस न होकर सहजता की प्रतीति होती है।

५) मोक्षमार्ग के साधक एवं बाधक गुणस्थानों में होनेवाली घटनाएँ भूमिका के अनुसार सहज होनेवाले कार्य हैं – ऐसा निर्णय होता है।

६) सम्यग्दृष्टि मनुष्य की अनेक वर्षों तक अव्रती अवस्था जानकर उसके प्रति उत्पन्न होनेवाला अनादर भाव सहज ही दूर हो जाता हैं एवं पुण्य-पाप परिणाम सहज प्रतीत होते हैं।

७) अव्रती मनुष्य को व्रतों का स्वीकार हठपूर्वक करना चाहिए – ऐसा विचार निकल जाता है।

८) मात्र बाह्य व्रतों की महिमा का भाव नष्ट हो जाता है।

९) ज्ञानी जीवों के जीवन में व्रत सहजरूप से क्रम से आ जाते हैं; इस आगम-वचन (प्रवचनसार गाथा ५ की टीका) की श्रद्धा उत्पन्न होती है।

१०) सर्वार्थसिद्धि के देव, लौकान्तिक देव, सौधर्म इन्द्र एवं चक्रवर्ती मनुष्य तथा भोगभूमिज मनुष्य के औदयिक परिणामों की विभिन्नता सहज प्रतीत होती है, उसमें अटपटापन नहीं लगता।

इतने विवेचन से पाठकों को श्रद्धा आदि गुणों की, सम्यग्दर्शन आदि पर्यायों की उत्पत्ति, उनका विकासक्रम एवं उनके पर्याय की पूर्णता का कथंचित् ज्ञान अवश्य हुआ होगा – ऐसा मैं मानता हूँ।

साथ ही यह सम्पूर्ण प्रकरण जिनवाणी और ज्ञानियों के अनुसार है, तथा जो कमियाँ हैं, वे सब मेरी अल्पज्ञता के कारण हैं – ऐसा समझने का पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है।

मैंने जो लिखने तथा प्रकाशित करने का प्रयास किया है, उसमें जिनेन्द्र-कथित तत्त्व का मेरे द्वारा किया गया अध्ययन, मनन-चिंतन ही प्रमुख है।

अंत में पाठकगण उक्त सम्पूर्ण विषय को समझकर मोक्षमार्ग की पूर्णता की ओर अग्रसर हों – इसी भावना के साथ समाप्त करता हूँ।

सूज्ञेषु अलं विस्तरेण।

● ● ●

द्वितीय खण्ड

रत्नत्रय के सम्बन्ध में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के अनमोल वचन.

मोक्षमार्ग के स्वरूप की ही विशेष स्पष्टता के लिए आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के संबंध में विशिष्ट प्रेरणास्पद चिंतन/उद्गार हम आगे दे रहे हैं, जो ज्ञानगोष्ठी नामक पुस्तक से संकलित है।

ज्ञानगोष्ठी के संपादन का कार्य डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल एवं पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री ने किया है।

हमें विश्वास है कि इससे पाठकों को मोक्षमार्ग की पूर्णता का विषय स्पष्ट समझ में आ सकेगा और यथार्थ ज्ञान का वर्धन होने से विशेष आनन्द भी मिलेगा।

सम्यग्दर्शन

१. प्रश्न – सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण क्या है?

उत्तर – स्व-पर का यथार्थ भेदज्ञान सदा सम्यक्त्व के साथ ही होता है तथा यह दोनों पर्यायें एक ही स्व-द्रव्य के आश्रय से होती हैं, इसलिए **भेदविज्ञान सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण है।**

गुण-भेद की अपेक्षा से सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण निर्विकल्प प्रतीति है और सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण भेदविज्ञान है – ऐसा भी कहा जाता है।

किन्तु निर्विकल्प अनुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कहा, क्योंकि वह सदा टिकी नहीं रहती।

इतनी बात अवश्य है कि सम्यक्त्व के उत्पत्तिकाल में अर्थात् प्रकट होते समय निर्विकल्प अनुभूति अवश्यमेव होती है, इसलिए उसे 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' अर्थात् सम्यक्त्व प्रकट होने का लक्षण कह सकते हैं।

अनुभूति सम्यक्त्व के सद्‌भाव को प्रसिद्ध अवश्य करती है, परन्तु जिस समय अनुभूति नहीं हो रही होती है, उस समय भी सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व का सद्‌भाव तो रहता ही है; इसलिए अनुभूति को सम्यक्त्व के लक्षण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। लक्षण तो ऐसा होना चाहिये कि जो लक्ष्य के साथ सदैव रहे और जहाँ लक्षण न हो, वहाँ लक्ष्य भी न हो। **(आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ-२३)**

२. प्रश्न – अनुभूति को सम्यग्दर्शन का लक्षण कह सकते हैं या नहीं?

उत्तर – अनुभूति को लक्षण कहा है; लेकिन वास्तव में तो वह ज्ञान की पर्याय है, सही लक्षण तो प्रतीति ही है। केवल आत्मा की प्रतीति – यह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) का लक्षण है।

(आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ-२४)

३. प्रश्न – सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए पात्रता कैसी होनी चाहिये?

उत्तर – पर्याय सीधी द्रव्य को पकड़े, वह सम्यग्दर्शन की पात्रता है। तदतिरिक्त व्यवहार-पात्रता तो अनेक प्रकार की कही जाती है। मूल पात्रता तो दृष्टि, द्रव्य को पकड़कर स्वानुभव करे; वही है।

(आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ-२२)

४. प्रश्न – सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले की व्यवहार योग्यता कैसी होती है?

उत्तर – निमित्त से अथवा राग से सम्यग्दर्शन नहीं होता, पर्यायभेद के आश्रय से भी नहीं होता, अन्दर में ढलने से ही सम्यग्दर्शन होता है,

अन्य किसी विधि से नहीं; इसप्रकार की दृढ़ श्रद्धा-ज्ञान होना, वही सम्यग्दर्शन होने वाले की योग्यता है। (आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ-२४)

५. प्रश्न – सम्यग्दर्शन के लिए खास प्रकार की पात्रता का लक्षण क्या है?

उत्तर – जिसको अपने आत्मा का हित करने के लिए अन्दर से वास्तविक लगन हो, आत्मा को प्राप्त करने की तड़फड़ाहट हो, दरकार हो, वास्तविक छटपटाहट हो; वह कहीं भी अटके बिना – रूके बिना अपना कार्य करेगा ही। (आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ-२६)

६. प्रश्न – सम्यग्दर्शन न होने में भावज्ञान की भूल है अथवा आगमज्ञान की?

उत्तर – अपनी भूल है। यह जीव स्व-तरफ नहीं झुककर, पर-तरफ रुकता है – यही भूल है। विद्यमान शक्ति को अविद्यमान कर दिया, अर्थात् प्राप्त शक्ति को अप्राप्त जैसा समझ लिया, अपनी त्रिकाली शक्ति के अस्तित्व को नहीं पहचाना – यही अपनी भूल है। त्रिकाली वर्तमान शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार कर ले – देख ले तो भूल टल जाये। (आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ-२६)

७. प्रश्न – तत्त्वविचार तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का निमित्त है। उसका मूल साधन क्या है?

उत्तर – मूल साधन अन्दर में आत्मा है, वहाँ दृष्टि का जोर जावे और 'मैं एकदम पूर्ण परमात्मा ही हूँ' – ऐसा विश्वास आवे, जोर आवे और दृष्टि अन्तर में ढले तब सम्यग्दर्शन होता है। उससे प्रथम तत्त्व का विचार होता है, उसकी भी रुचि छोड़कर जब अन्दर में जाता है तब उस विचार को निमित्त कहा जाता है। (आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ-२६)

८. प्रश्न – नव तत्त्व को जानना सम्यग्दर्शन है या शुद्धजीव को जानना सम्यग्दर्शन है?

उत्तर – नव तत्त्व को यथार्थ रूप से जानने पर उसमें शुद्धजीव का ज्ञान भी साथ में आ ही जाता है, तथा जो शुद्धजीव को जानता है उसको नव तत्त्व का भी यथार्थ ज्ञान अवश्य होता है। इसप्रकार नव तत्त्व के ज्ञान को सम्यक्त्व कहो अथवा शुद्धजीव के ज्ञान को सम्यक्त्व कहो – दोनों एक ही हैं। (ज्ञान कहने पर उस ज्ञानपूर्वक की प्रतीति को सम्यग्दर्शन समझना।)

इसमें एक विशेषता यह है कि सम्यक्त्व प्रकट होने की अनुभूति के समय में नव तत्त्व के ऊपर लक्ष्य नहीं होता, वहाँ तो शुद्धजीव के ऊपर ही उपयोग लक्षित होता है और 'यह मैं हूँ' – ऐसी जो निर्विकल्प प्रतीति है, उसके ध्येयभूत एकमात्र शुद्धात्मा ही है।

(आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ-२३)

९. प्रश्न – सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि क्या है?

उत्तर – 'पर का कर्त्ता आत्मा नहीं, राग का भी कर्त्ता नहीं, राग से भिन्न ज्ञायक मूर्ति हूँ' – ऐसी अन्तर में प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि है।

ऐसा समय मिला है जिसमें आत्मा को राग से भिन्न कर देना ही कर्त्तव्य है। अवसर चूकना बुद्धिमानी नहीं।

(आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ-२५)

१०. प्रश्न – त्रिकाली ध्रुव द्रव्यदृष्टि में आया – ऐसा कब कहा जाय? वेदन में भी द्रव्य आता है क्या?

उत्तर – चैतन्य त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मद्रव्य दृष्टि में आने पर नियम से पर्याय में आनन्द का वेदन आता है। इसी पर्याय को अलिंगग्रहण के २०वें बोल में आत्मा कहा है।

त्रिकाली ध्रुव भगवान के ऊपर दृष्टि पड़ने पर आनन्द का अनुभव होता है, तभी द्रव्यदृष्टि हुई कही जाती है।

यदि आनन्द का वेदन न हो तो उसकी दृष्टि द्रव्य पर गई ही नहीं।

जिसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर जावे, उसको अनादिकालीन राग का वेदन टलकर आनन्द का वेदन पर्याय में होगा। ऐसी दशा में उसकी दृष्टि में द्रव्य आया है, तथापि वेदन में द्रव्य आता नहीं; क्योंकि पर्याय द्रव्य का स्पर्श करती नहीं।

प्रभु की पर्याय में प्रभु का स्वीकार होने पर उस पर्याय में प्रभु का ज्ञान आता है; किन्तु पर्याय में प्रभु का - द्रव्य का वेदन नही आता।

यदि वेदन में द्रव्य आवे तो द्रव्य का नाश हो जाये; परन्तु द्रव्य तो त्रिकाल टिकनेवाला है, इसलिये वह पर्याय में आता नहीं अर्थात् पर्याय सामान्य द्रव्य को स्पर्श नहीं करती - ऐसा कहा।

(आत्मधर्म : मई १९८०, पृष्ठ-२५)

११. प्रश्न – सम्यग्दर्शन और आत्मा भेदरूप हैं या अभेदरूप हैं ?

उत्तर – यह सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें और आत्मा अभेद हैं। राग का और आत्मा का तो स्वभावभेद है; किन्तु यह सम्यग्दर्शन और शुद्धात्मा अभेद हैं।

परिणति स्वभाव में अभेद होकर परिणमित हुई है, आत्मा स्वयं अभेदपने उस परिणतिरूप से परिणमित हुआ है - उसमें भेद नहीं है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन तो विकल्परूप है, वह कहीं आत्मा के साथ अभेद नहीं है। **(आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ-२४)**

१२. प्रश्न – दृष्टि के विषय में वर्तमान पर्याय शामिल है या नहीं ?

उत्तर – दृष्टि के विषय में मात्र ध्रुवद्रव्य ही आता है। पर्याय तो द्रव्य को विषय करती है, परन्तु वह ध्रुव में शामिल नहीं होती; क्योंकि वह विषय करनेवाली है। विषय और विषयी भिन्न-भिन्न हैं।

(आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ-२३)

१३. प्रश्न – द्रव्यदृष्टि में किसका आलम्बन होता है?

उत्तर – द्रव्यदृष्टि शुद्ध अन्तःतत्त्व का ही अवलम्बन लेती है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय भी बहिर्तत्त्व है, उसका आलम्बन द्रव्यदृष्टि में नहीं है।

संवर-निर्जरा-मोक्ष भी पर्याय है, अतः वह भी विनाशीक होने से बहिर्तत्त्व है, उसका भी आलम्बन द्रव्यदृष्टि में नहीं है।

मन-शरीर-वाणी, कुटुम्ब अथवा देव-शास्त्र-गुरु – ये तो परद्रव्य होने से बहिर्तत्त्व हैं ही और दया-दान-व्रत-तपादि के परिणाम भी विकार होने से बहिर्तत्त्व ही हैं।

यहाँ तो जो शुद्ध निर्मल पर्यायरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम हैं, वे भी क्षणिक अनित्य और एकसमयमात्र टिकते होने से, ध्रुवतत्त्व अन्तःतत्त्व की अपेक्षा से बहिर्तत्त्व ही हैं। अतः उनका भी आलम्बन लेने योग्य नहीं है। **(आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ-२३)**

१४. प्रश्न – सम्यग्दर्शन का विषय क्या है ?

उत्तर – समयसार की १३वीं गाथा में कहा है कि नवतत्त्वरूप पर्यायों में अन्वयरूप से विद्यमान भूतार्थ एकरूप सामान्य ध्रुव वह सम्यग्दर्शन का विषय है।

पंचाध्यायी (अध्याय-२) में भी कहा है कि भेदरूप नवतत्त्वों में सामान्यरूप से विद्यमान अर्थात् ध्रुवरूप से विद्यमान वह जीव का शुद्ध भूतार्थस्वरूप है।

इसप्रकार भेदरूप नवतत्त्वों से भिन्न शुद्ध जीव को बतलाकर उसे सम्यग्दर्शन का विषय अर्थात् ध्येयरूप बतलाया है।

जब जीव की श्रद्धापर्याय ध्येयभूत सामान्य ध्रुव द्रव्यस्वभाव की ओर झुकती है, तभी सम्यग्दर्शन एवं निर्विकल्प स्वानुभव होता है।

उस समय दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि सर्व गुणों के परिणाम (पर्याय) स्वभाव की ओर झुकते हैं; मात्र श्रद्धा-ज्ञान के ही परिणाम झुकते हैं - ऐसा नहीं है। 'वहाँ सर्व परिणाम उसरूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं।' - **(पं. टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी)।**

(आत्मधर्म : जनवरी १९७७, पृष्ठ-२४)

१५. प्रश्न – ध्रुवस्वभाव के साथ निर्मलपर्याय को अभेद करके दृष्टि का विषय मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर – ध्रुव द्रव्यस्वभाव के साथ निर्मलपर्याय को एकमेक करने से दृष्टि का विषय होता है - ऐसा माननेवाले व्यवहार से निश्चय होना माननेवालों की भाँति ही मिथ्यादृष्टि हैं; उनका जोर पर्याय पर है, ध्रुवस्वभाव पर नहीं है।

सम्यग्दर्शन के विषय में द्रव्य के साथ उत्पादरूप निर्मलपर्याय को साथ लेने से वह निश्चयनय का विषय न रहकर प्रमाण का विषय हो जाता है और प्रमाण स्वयं सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय का विषय अभेद एकरूप द्रव्य है, प्रमाण की भाँति उभय अंशग्राही नहीं है।

यदि पर्याय को द्रव्य के साथ एकमेक किया जाये तो निश्चयनय का विषय जो त्रिकाली सामान्य है, वह नहीं रहता; परन्तु प्रमाण का विषय हो जाने से दृष्टि में भूल है, विपरीतता है।

अनित्य नित्य को जानता है; पर्याय द्रव्य को जानती है; पर्यायरूप व्यवहार निश्चयरूप ध्रुव द्रव्य को जानता है। भेद-अभेद द्रव्य को जानता है; पर्याय जाननेवाली अर्थात् विषयी है और त्रिकाली ध्रुव द्रव्य जाननेवाली पर्याय का विषय है। यदि द्रव्य के साथ निर्मलपर्याय को मिलाकर निश्चयनय का विषय कहा जाये तो विषय करनेवाली पर्याय तो कोई भिन्न नहीं रही; अतः पर्याय को विषयकर्ता के रूप में द्रव्य से

भिन्न लिया जाये, तभी विषय-विषयी दो भाव सिद्ध हो सकते हैं; इससे अन्यथा मानने से महा-विपरीतता होती है।

श्रुतज्ञान की पर्याय प्रमाणज्ञान है। प्रमाणज्ञान स्वयं पर्याय होने से व्यवहार है। वीतरागी पर्यायें स्वयं व्यवहार हैं; परन्तु उसमें त्रिकाली द्रव्यरूप निश्चय का आश्रय लिया होने से उस निर्मलपर्याय को निश्चयनय कहा है; परन्तु वह पर्याय होने से व्यवहार ही है।

शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। पर का लक्ष्य छोड़कर, राग का लक्ष्य छोड़कर, पर्याय का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली द्रव्य का लक्ष्य करे, तब वीतरागता प्रकट होती है। यदि त्रिकाली द्रव्यरूप ध्येय में पर्याय को साथ ले तो वह बात नहीं रहती।

(आत्मधर्म : जनवरी १९७७, पृष्ठ-२४-२५)

१६. प्रश्न – इसका कोई शास्त्रीय आधार भी है क्या ?

उत्तर – समयसार की ४९वीं गाथा की टीका में त्रिकाली सामान्य ध्रुवद्रव्य से निर्मलपर्याय को भिन्न बतलाते हुये कहा है कि व्यक्तपना तथा अव्यक्तपना एकमेक -मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह व्यक्तपने को स्पर्श नहीं करता, इसलिये अव्यक्त है। इस अव्यक्त विशेषण से त्रिकाली ध्रुवद्रव्य कहा है, उसके आश्रय से निर्मलपर्याय प्रकट होती है; तथापि वह त्रिकाली ध्रुव द्रव्य व्यक्त ऐसी निर्मलपर्याय को स्पर्श नहीं करता। इसी अपेक्षा से त्रिकाली ध्रुव द्रव्य से निर्मलपर्याय को भिन्न कहा है।

प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के १८वें बोल में कहा है कि आत्मा में अनन्त गुण होने पर भी उन गुणों के भेद को आत्मा स्पर्श नहीं करता; क्योंकि गुणों के भेद को लक्ष्य में लेने से विकल्प उठता है, निर्विकल्पता नहीं होती। शुद्ध निश्चयनय से एकरूप अभेद सामान्य ध्रुव द्रव्य को लक्ष्य में लेने से विकल्प टूटकर निर्विकल्पता होती है। इसलिये आत्मा गुणों के भेद को स्पर्श नहीं करता - ऐसा कहा है।

१९वें बोल में आत्मा पर्याय के भेद को स्पर्श नहीं करता अर्थात् जिसप्रकार ध्रुव में गुण हैं, तथापि उनके भेद को स्पर्श नहीं करता; उसीप्रकार ध्रुव में पर्यायें हैं और उन्हें स्पर्श नहीं करता - ऐसा नहीं कहना है; परन्तु ध्रुव सामान्य से पर्यायें भिन्न ही हैं - ऐसे पर्याय के भेद को आत्मा स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहकर निश्चयनय के विषय में अकेला सामान्य द्रव्य ही आता है - ऐसा बतलाया है।

(आत्मधर्म : जनवरी १९७७, पृष्ठ-२५)

१७. प्रश्न – सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसमें पुरुषार्थ की निर्बलता को कारण मानें ?

उत्तर – नहीं; विपरीतता के कारण तो सम्यग्दर्शन अटकता है और पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण चारित्र अटकता है - ऐसा न मानकर सम्यक्त्व के न होने में पुरुषार्थ की निर्बलता को कारण मानना, यह तो पहाड़ जैसे महा दोष को राई समान अल्प बनाने जैसा है। जो ऐसा मानता है कि सम्यग्दर्शन अटकने में पुरुषार्थ की निर्बलता कारण है, वह इस पहाड़ जैसी विपरीत मान्यता के दोष को दूर नहीं कर सकता।

(आत्मधर्म : अगस्त १९८१, पृष्ठ-२६)

१८. प्रश्न – समयसार में शुद्धनय का अवलम्बन लेने के लिये कहा है, परन्तु शुद्धनय तो ज्ञान का अंश है, पर्याय है, क्या उस अंश के - पर्याय के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होगा ?

उत्तर – शुद्धनय का अवलम्बन वास्तव में कब हुआ कहा जाये ? अकेले अंश का भेद करके उसके ही अवलम्बन में जो अटका है, उसके तो शुद्धनय है ही नहीं। ज्ञान के अंश को अन्तर में लगाकर जिसने त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेदता की है, उसको ही शुद्धनय होता है। ऐसी अभेददृष्टि की, तब शुद्धनय का अवलम्बन लिया - ऐसा कहा जाता है।

'शुद्धनय का अवलम्बन' - ऐसा कहने पर उसमें भी द्रव्य-पर्याय की अभेदता की ही बात आती है; परिणति अन्तर्मुख होकर द्रव्य में अभेद होने पर जो अनुभव हुआ - उसका नाम शुद्धनय का अवलम्बन है; उसमें द्रव्य-पर्याय के भेद का अवलम्बन नहीं है।

यद्यपि शुद्धनय ज्ञान का ही अंश है, पर्याय है; परन्तु वह शुद्धनय अन्तर के भूतार्थ स्वभाव में अभेद हो गया है अर्थात् वहाँ नय और नय का विषय जुदा नहीं रहा। जब ज्ञानपर्याय अन्तर में झुककर शुद्धद्रव्य के साथ अभेद हुई, तब ही शुद्धनय निर्विकल्प है। ऐसा शुद्धनय कतक फल के स्थान पर है।

जैसे मैले पानी में कतक फल अर्थात् निर्मली नामक औषधि डालने पर पानी निर्मल हो जाता है, वैसे ही कर्म से भिन्न शुद्धात्मा का अनुभव शुद्धनय से होता है। शुद्धनय से भूतार्थ स्वभाव का अनुभव होने पर आत्मा और कर्म का भेदज्ञान हो जाता है।

(आत्मधर्म : फरवरी १९८२, पृष्ठ-२४)

१९. प्रश्न – कितना अभ्यास करें कि सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सके?

उत्तर – ग्यारह अंगों का ज्ञान हो जाये – इतनी राग की मन्दता अभव्य को होती है। ग्यारह अंग के ज्ञान का क्षयोपशम बगैर पढ़े ही हो जाता है, विभंग ज्ञान भी हो जाता है और सात द्वीप समुद्र को प्रत्यक्ष देखता है, तो भी यह सब ज्ञान होना सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है।

(आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ-२१)

२०. प्रश्न – ग्यारह अंग वाले को भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब आत्मा की रुचि बगैर इतना सारा ज्ञान कैसे हो जाता है ?

उत्तर – ज्ञान का क्षयोपशम होना - यह तो मंद कषाय का कार्य है, आत्मा की रुचि का कार्य नहीं। जिसको आत्मा की यथार्थ रुचि होती है, उसका ज्ञान अल्प हो तो भी रुचि के बल पर सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शन के लिये ज्ञान के क्षयोपशम की आवश्यकता नहीं, लेकिन आत्मरुचि की ही आवश्यकता है।

(आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ-२१-२२)

२१. प्रश्न – इतने अधिक शास्त्र हैं, उनमें सम्यग्दर्शन के लिए विशेष निमित्त भूत कौन-सा शास्त्र है?

उत्तर – स्वयं जब स्वभाव को देखने में उग्र पुरुषार्थ करता है, तब उससमय जो शास्त्र निमित्त हो, उसको निमित्त कहा जाता है। द्रव्यानुयोग हो, करणानुयोग हो, चरणानुयोग शास्त्र हो, वह भी निमित्त कहा जाता है, प्रथमानुयोग को भी बोधिसमाधि का निमित्त कहा है।

(आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ-२०)

२२. प्रश्न – अपनी आत्मा को जानने से ही सम्यग्दर्शन होता है, तो फिर अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर – अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना आवश्यक है। अरहंत की पूर्ण-पर्याय को जानने पर ही, वैसी पर्याय अपने में प्रगट नहीं हुई है; इसलिये उसे स्वद्रव्य की तरफ लक्षित करने पर दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है और सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति होती है। इसलिये अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने पर सम्यग्दर्शन हुआ - ऐसा कहा जाता है। (आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ-२६)

२३. प्रश्न – शुद्धस्वरूप का इतना विशाल स्तंभ दिखलाई क्यों नहीं पड़ता ?

उत्तर – दृष्टि बाहर ही बाहर भ्रमावे, उसको कैसे दिखाई पड़े ? पुण्य के भाव में बड़प्पन देखा करता है, परन्तु अन्दर जो विशाल महान प्रभु पड़ा है उसे देखने का प्रयत्न नहीं करता। यदि उसे देखने का प्रयत्न करे तो अवश्य दिखाई पड़े। (आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ-२७)

२४. प्रश्न – जिनबिंब-दर्शन से निद्धति और निकांचित कर्म का भी

नाश होता है और सम्यग्दर्शन प्रकट होता है - ऐसा श्री धवलग्रन्थ में वर्णन आता है। तो क्या परद्रव्य के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ?

उत्तर – श्री धवलग्रन्थ में जो ऐसा पाठ आता है, उसका अभिप्राय यह है कि जिनबिंबस्वरूप निज अन्तरात्मा सक्रिय चैतन्यबिम्ब है, उसके ऊपर लक्ष्य और दृष्टि जाने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और निद्धति व निकांचित कर्म टलते हैं, तब जिनबिंब-दर्शन से सम्यग्दर्शन हुआ और कर्म टला - ऐसा उपचार से कथन किया जाता है। चूंकि पहले जिनबिम्ब के ऊपर लक्ष्य था, इसलिए उसके ऊपर उपचार का आरोप किया जाता है। सम्यग्दर्शन तो स्व के लक्ष्य से ही होता है, पर के लक्ष से तो तीन काल में हो सकता नहीं - ऐसी वस्तुस्थिति है और वही स्वीकार्य है। (आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ-२४)

२५. प्रश्न – मिथ्यात्व का नाश स्वसन्मुख होने से ही होता है या कोई और दूसरा उपाय भी है ?

उत्तर – स्वाश्रय से ही मिथ्यात्व का नाश होता है, यही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय प्रवचनसार गाथा ८६ में बताया गया है कि स्वलक्ष्य से शास्त्राभ्यास करना उपायान्तर अर्थात् दूसरा उपाय है, इससे मोह का क्षय होता है। (आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ-२८)

२६. प्रश्न – सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

उत्तर – सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई है वह राग की मंदता के कारण प्रगट हुई है- ऐसा तो है ही नहीं; किन्तु सूक्ष्मता से देखें तो द्रव्य-गुण के कारण सम्यग्दर्शन हुआ है - ऐसा भी नहीं है।

सम्यग्दर्शन की पर्याय का लक्ष्य और ध्येय व आलम्बन यद्यपि द्रव्य है; तथापि पर्याय अपने ही षट्कारक से स्वतंत्र परिणमित हुई है।

जिससमय जो पर्याय होनेवाली है, उसको निमित्तादि का अवलम्बन तो है नहीं, वह द्रव्य के कारण उत्पन्न हुई है- ऐसा भी नहीं

है। भाई ! अन्तर का रहस्य कच्चे पारे की तरह बहुत गम्भीर है, पचा सके तो मोक्ष होता है। (आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ-२५)

२७. **प्रश्न** – "पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ सो प्रारम्भ" - ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है । वहाँ पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ में त्रिकाली द्रव्य को लेना अथवा केवलज्ञान पर्याय को लेना? कृपया स्पष्टीकरण कीजिये?

उत्तर – यहाँ पूर्णता के लक्ष्य में साध्यरूप केवलज्ञान पर्याय लेना। त्रिकाली द्रव्य तो ध्येयरूप है। केवलज्ञान उपेय है और साधकभाव उपाय है। उपाय का साध्य उपेय केवलज्ञान है।

(आत्मधर्म : मई १९८०, पृष्ठ-२५)

२८. **प्रश्न** – जिनवरकथित व्यवहार चारित्र का सावधानीपूर्वक पालन सम्यग्दर्शन होने का कारण होता है या नहीं ?

२९. **उत्तर** – रंचमात्र भी कारण नहीं होता।

सम्यग्दर्शन होने का कारण तो अपना त्रिकाली आत्मा ही है।

जिनेन्द्रकथित व्यवहारचारित्र को सावधानीपूर्वक और परिपूर्ण पालें, तथापि उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता। (आत्मधर्म : अक्टूबर १९७७, पृष्ठ-२४)

३०. **प्रश्न** – दोनों अपेक्षाओं का प्रमाणज्ञान करें, फिर पर्यायदृष्टि गौण करें, निश्चयदृष्टि मुख्य करें - इतनी मेहनत करने के बदले 'आत्मा चैतन्य है'- मात्र इतना ही अनुभव में आए तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नहीं ?

उत्तर – नहीं; नास्तिकमत के सिवाय सभी मतवाले आत्मा को चैतन्यमात्र मानते हैं। यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाय तो सभी के सम्यक्त्व सिद्ध हो जायेगा।

सर्वज्ञ वीतराग ने आत्मा का जैसा स्वतन्त्र और पूर्ण स्वरूप कहा है - वैसा सत्समागम से जानकर, स्वभाव से निर्णय करके; उसका ही श्रद्धान करने से निश्चय सम्यक्त्व होता है।

सर्वज्ञ को स्वीकार करनेवाले जीव ने यह निर्णय किया है कि अल्पज्ञ जीव अधूरी अवस्था के काल में भी सर्वज्ञ परमात्मा जैसा पूर्ण सामर्थ्यवान है।

पूर्ण को स्वीकार करनेवाला प्रतिसमय पूर्ण होने की ताकत रखता है।

परोक्षज्ञान में वस्तु के वर्तमान, स्वतन्त्र, त्रिकाली, अखण्ड, परिपूर्णस्वरूप का निर्णय पूर्णता के लक्ष्य से ही होता है। शुद्धनय से ऐसा जानना निश्चयसम्यक्त्व है। **(आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ-२४)**

३१. प्रश्न – जिसप्रकार क्रियानय से साध्यसिद्धि है - ऐसा एक धर्म है और ज्ञाननय से साध्यसिद्धि है -ऐसा भी एक धर्म है; उसीप्रकार त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन हो और निर्मल पर्याय सहित द्रव्य के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन हो - ऐसा है क्या ?

उत्तर – नहीं, एक ही समय में जानने योग्य क्रियानय तथा ज्ञाननय इत्यादि अनन्तधर्म हैं; परन्तु सम्यग्दर्शन का विषय एक नय से त्रिकालीद्रव्य भी है और दूसरे नय से देखने पर पर्याययुक्त द्रव्य भी सम्यग्दर्शन का विषय बने - ऐसा कोई धर्म ही नहीं है।

सम्यग्दर्शन का विषय तो मात्र भूतार्थ ऐसा त्रिकाली ध्रुव द्रव्य (पर्यायरहित) ही है। उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, अन्यथा सम्यग्दर्शन नहीं होता। **(आत्मधर्म : दिसम्बर १९७६, पृष्ठ-२६)**

३२. प्रश्न – सम्यग्दर्शन तो राग छोड़ने पर होता है न ?

उत्तर – राग की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करने से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होने पर राग से भिन्नता भासित होती है, राग सर्वथा नहीं छूटता; पर राग को दुखरूप जानकर उसकी रुचि छूटती है।

(आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ-२५)

३३. प्रश्न – गुण-भेद के विचार से भी मिथ्यात्व न टले तो मिथ्यात्व कैसे टलेगा ?

उत्तर – जिसमें राग और मिथ्यात्व है ही नहीं - उस शुद्ध वस्तु में परिणाम तन्मय होने पर मिथ्यात्व टल जाता है, दूसरा कोई उपाय मिथ्यात्व के दूर करने का नहीं है।

भाई ! गुण-भेद का विकल्प भी शुद्धवस्तु में नहीं; शुद्धवस्तु की प्रतीति गुण-भेद के विकल्प की अपेक्षा भी नहीं रखती।

वस्तु में विकल्प नहीं और विकल्प में वस्तु नहीं। इसप्रकार दोनों की भिन्नता जानकर परिणति विकल्प में से हटकर स्वभाव में आवे, तब मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है - यही मिथ्यात्व टालने की रीति है।

अर्थात् उपयोग और रागादिक का भेदज्ञान होना ही सम्यक्त्व का मार्ग है।

इसलिये विकल्प की अपेक्षा चिदानन्दस्वभाव की अनन्त महिमा भासित होकर उसका अनन्तगुना रस आना चाहिये।

(आत्मधर्म : अगस्त १९७७, पृष्ठ-२६)

३४. प्रश्न – जिसको सम्यग्दर्शन होना ही है, ऐसे जीव की पूर्व भूमिका कैसी होती है ?

उत्तर : इस जीव को जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा सविकल्प निर्णय होता है; लेकिन सविकल्प से निर्विकल्पता होती ही है - ऐसा नहीं है। **(आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ-२१)**

३५. प्रश्न – दृष्टि को स्थिर करने के लिए सामने की वस्तु स्थिर होनी चाहिए; लेकिन दृष्टि तो पलटती रहती है, वह किसतरह स्थिर हो ?

उत्तर – सामने स्थिर वस्तु हो तो उस पर नजर करने से दृष्टि स्थिर हो जाती है। भले ही जब दृष्टिरूप पर्याय स्थिर न रह सकती हो तो भी ध्रुव पर नजर एकाग्र करने से अन्य सम्पूर्ण वस्तु नजर में आ जाती है, सम्पूर्ण आत्मद्रव्य दृष्टि में जाना जाता है।

मूल बात यह है कि अन्दर में जो आश्चर्यकारी आत्मवस्तु है, उसकी अन्दर से महिमा नहीं आती। द्रव्यलिंगी साधु हुआ, लेकिन अन्दर से महिमा नहीं आती। पर्याय के पीछे समूचा ध्रुव, महाप्रभू विद्यमान है -इसकी महिमा, आश्चर्य भासित हो तो कार्य होता ही है।

आत्मा अनन्त-अनन्त आनंद का धाम है, इसको विश्वास में लाना चाहिए। अन्दर में जब आत्मा की प्रभुता का विश्वास आये, तब कार्य होता ही है।

जिसने जीवन ज्योति ऐसे चैतन्य का अनादर करके राग को अपना माना है; राग मैं हूँ - ऐसा माना है; उसने अपनी आत्मा का घात किया है।

जिससे लाभ मानता है, उसको स्वयं का माने बगैर उससे लाभ माना नहीं जा सकता। इसलिए राग से लाभ माननेवाला स्वयं का ही घात करनेवाला होने से दुरात्मा है, आत्मा का अनादर करनेवाला है, अविवेकी मिथ्यादृष्टि है। **(आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ-२१)**

३६. प्रश्न – इस पर से ऐसा होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पात्र कौन है?

उत्तर – यह पात्र ही है, लेकिन पात्र नहीं है – ऐसा मान लेता है। यही शल्य बाधक होती है। **(आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ-२१)**

३७. प्रश्न – क्या सविकल्प द्वारा निर्विकल्प नहीं होता है ?

उत्तर – सविकल्प द्वारा निर्विकल्प नहीं होता, किन्तु कहा अवश्य जाता है; क्योंकि विकल्प को छोड़कर निर्विकल्प में जाता है, यह बताने के लिये सविकल्प द्वारा हुआ - ऐसा कहा जाता है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आता है कि 'रोमांच होता है' अर्थात् वीर्य अन्दर जाने के लिये उल्लसित होता है - ऐसा बताना है।

(आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ-२४)

३८. प्रश्न – शास्त्राभ्यास आदि करने पर भी उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता तो सम्यग्दर्शन के लिए क्या करना ?

उत्तर – यथार्थ में तो एक आत्मा की ही रुचिपूर्वक सबसे पहिले आत्मा को जानना, वही सम्यग्दर्शन का उपाय है।

आत्मा का सत्य निर्णय करनेवाले को पहिले सात तत्त्वों का सविकल्प निर्णय होता है, शास्त्राभ्यास होता है, शास्त्राभ्यास ठीक है - ऐसा भी विकल्प होता है, लेकिन उससे यथार्थ निर्णय नहीं होता।

जहाँतक विकल्प सहित है, वहाँतक परसन्मुखता है, परसन्मुखता से सत्य निर्णय नहीं होता।

स्वसन्मुख होते ही सत्य निर्विकल्प निर्णय होता है।

सविकल्पता द्वारा निर्विकल्प होना कहा है तो भी सविकल्पता निर्विकल्प होने का सही कारण नहीं है। तब भी सविकल्पता पहिले होती है, इसीकारण सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होना कहा जाता है।

(आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ-२०)

३९. प्रश्न – क्या सम्यग्दृष्टि को अशुभभाव के सद्भाव में आयुष्य बंधती है ?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि को चौथे-पाँचवे गुणस्थान में व्यापार-विषयादि का अशुभराग भी होता है; तथापि सम्यग्दर्शन का ऐसा माहात्म्य है कि उसको अशुभभाव के समय आयुष्य नहीं बँधती, शुभभाव में ही बँधती है।

सम्यग्दर्शन का ऐसा प्रभाव है कि उसके भव बढ़ते तो हैं ही नहीं; यदि भव होते भी हैं तो नीचा भव नहीं होता, स्वर्गादि का ऊँचा भव ही होता है। **(आत्मधर्म : नवम्बर १९७८, पृष्ठ-२६)**

४०. प्रश्न – जिसके प्रताप से जन्म-मरण टले और मुक्ति प्राप्त हो ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन पंचमकाल में शीघ्र हो सकता है क्या ?

उत्तर – पंचमकाल में भी क्षणभर में सम्यग्दर्शन हो सकता है। पंचमकाल सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने के लिए प्रतिकूल नहीं है। सम्यग्दर्शन

प्रगट करना तो वीरों का काम है, कायरों का नहीं। पंचमकाल में नहीं हो सकता, वर्तमान में नहीं हो सकता - ऐसा मानना कायरता है।

बाद में करेंगे, कल करेंगे - इसप्रकार वायदा करनेवालों का यह काम नहीं है। आज ही करेंगे, अभी करेंगे - ऐसे वीरों का यह काम है। आत्मा आनंदस्वरूप है, उसके समक्ष देखनेवालों को पंचमकाल क्या करेगा ? (आत्मधर्म : दिसम्बर १९७८, पृष्ठ-२६)

४१. प्रश्न – शुद्धात्मा की रुचिरूप सम्यग्दर्शन को निश्चयसम्यग्दर्शन कहा गया है। उस निश्चयसम्यग्दर्शन के सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व ऐसे दो भेद क्यों ?

उत्तर – निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ वर्तते हुये राग को बताने के लिए निश्चय सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वहाँ सम्यग्दर्शन तो निश्चय ही है, परन्तु साथ में प्रवर्तमान शुभराग का व्यवहार है; अत: उसका सम्बन्ध बताने के लिए सराग सम्यक्त्व कहने में आता है।

गृहस्थाश्रम में स्थित तीर्थंकर, भरत, सगर आदि चक्री तथा राम, पाण्डव आदि को सम्यग्दर्शन तो निश्चय था।

तथापि उसके साथ वर्तते हुए शुभराग का सम्बन्ध बताने के लिए उन्हें सराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

यहाँ मूल प्रयोजन वीतरागता पर वजन देना है। इसलिए निश्चय सम्यक्त्व होने पर भी उसे सराग सम्यक्त्व कहा गया है और उसे वीतराग सम्यक्त्व का परम्परा साधक कहा है।

शुद्धात्मा की रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन में सराग और वीतराग के भेद नहीं हैं। है तो एक-सा सम्यग्दर्शन, किन्तु जहाँ स्थिरता की मुख्यता का कथन चलता हो, वहाँ सम्यक्त्व के साथ वर्तते हुए राग के सम्बन्ध को देखकर उसे सराग सम्यक्त्व कहा है और रागरहित संयमी के वीतराग सम्यक्त्व कहा है; क्योंकि जैसा वीतरागस्वभाव है, वैसा

ही वीतरागी परिणमन भी हुआ है, अत: वीतरागता का सम्बन्ध देखकर उसे वीतराग सम्यग्दर्शन कहा गया है।(आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ-२७)

४२. प्रश्न – ज्ञानप्राप्ति का फल तो राग का अभाव होना है न ?

उत्तर – राग का अभाव अर्थात् राग से भिन्न आत्मा के अनुभवपूर्वक भेदज्ञान का होना। इसमें राग के कर्त्तापने का-स्वामीपने का अभाव हुआ, राग में से आत्मबुद्धि छूट गई; यही राग के प्रथम नम्बर का अभाव हो गया। (आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ-२६)

४३. प्रश्न – सम्यग्दर्शन सहित नरकवास भी भला कहा है तो क्या नरक में सम्यग्दृष्टि को आनंद की गटागटी है ?

उत्तर – यह तो सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से कहा है; फिर भी जितनी कषाय है, उतना दु:ख तो है ही। तीन कषाय हैं, उतना दुख है। **मुनि को घानी में पेले, अग्नि में जलावे; तथापि तीन कषाय का अभाव होने से उन्हें आनंद है।** (आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ-२७)

४४. प्रश्न – सम्यक् श्रद्धा और अनुभव में क्या अन्तर है?

उत्तर – सम्यक्श्रद्धान-प्रतीति तो श्रद्धागुण की पर्याय है और अनुभव मुख्यतः चारित्रगुण की पर्याय है। (आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ-२४)

४५. प्रश्न – मिथ्यात्व-आस्रवभाव को तोड़ने का वज्रदण्ड क्या है?

उत्तर – त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव ही वज्रदण्ड है; क्योंकि उसी का आश्रय लेने से मिथ्यात्व-आस्रवभाव टूटता है। प्रथम में प्रथम कर्तव्य राग से भिन्न होकर ज्ञायकभाव की दृष्टि करना है। इस कार्य को किये बिना तप-व्रतादि सभी कुछ थोथा है।

(आत्मधर्म : सितम्बर १९७९, पृष्ठ-२७)

४६. प्रश्न – किसी जीव का उपशम सम्यक्त्व छूट जाये और वह मिथ्यात्व में आ जाये तो उसे ख्याल में आता है कि मुझे सम्यक्त्व हुआ था ?

उत्तर – हाँ, सम्यक्त्व छूट जाने के बाद थोड़े समय तक ख्याल में रहता है, किन्तु लम्बे समय के पश्चात् भूल जाता है।

(आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ-२१)

४७. प्रश्न – दर्शनपाहुड की गाथा २१ में कहा है कि हे जीव ! तू सम्यग्दर्शन को अन्तरंगभाव से ग्रहण कर। यहाँ बताये हुये अन्तरंगभाव का तथा बहिरंगभाव का भी अर्थ स्पष्ट कीजिये?

उत्तर – अन्तरस्वभाव के आश्रय से परिणति प्रकट करना, वह अन्तरंगभाव है; ऐसी परिणति अंशरूप में प्रकट करना सम्यग्दर्शन है। इसके विपरीत नव तत्त्व की श्रद्धा आदि राग भाव अन्तरंगभाव नहीं हैं, वे तो बहिरंगभाव हैं।

बाह्यलक्ष से जो भी भाव हों, वे सब बहिरंग भाव हैं। पुण्य-पाप के परिणाम चैतन्य अंग नहीं हैं, किन्तु कार्मण अंग हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कार्माण अंग है। चैतन्य को चूककर कर्म के संबंध से जो भी भाव उत्पन्न हों, वे सब बहिरंगभाव हैं, अन्तरंगभाव नहीं। उनसे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति भी नहीं होती।

जड़ की क्रियाओं और बाह्यभावों में एकत्वबुद्धि छोड़कर अर्थात् परभावों में आत्मबुद्धि छोड़कर अकेले आत्मस्वभाव का आश्रय करना अन्तरंगभाव है; उसी से आत्मकल्याण होता है।

(आत्मधर्म : अप्रेल १९८२, पृष्ठ-२५)

४८. प्रश्न – जिससमय जीव हेय-उपादेय को यथार्थ समझे, उसीसमय हेय को छोड़कर उपादेय को ग्रहण करे अर्थात् सच्ची श्रद्धा के साथ ही साथ पूर्ण चारित्र भी होना चाहिये; परन्तु ऐसा होता तो है नहीं; इसलिये हम तो ऐसा मानते हैं कि जब यह जीव रागादि को त्यागकर चारित्र अंगीकार करे, तभी उसे सच्ची श्रद्धा होती है। - ऐसा मानने में क्या दोष है?

उत्तर – सम्यग्दर्शन का काम तो परिपूर्ण आत्मस्वभाव को ही मानना है; रागादि के ग्रहण-त्याग करने का काम सम्यग्दर्शन का नहीं है, वह तो चारित्र का अधिकार है।

सच्ची श्रद्धा का कार्य यह है कि उपादेय की उपादेयरूप से और हेय की हेयरूप से प्रतीति करे। उपादेय को अंगीकार करना और हेय को छोड़ने का काम चारित्र का है, श्रद्धा का नहीं।

राजपाट में होने पर भी और राग विद्यमान होने पर भी भरत चक्रवर्ती, श्रेणिक राजा, रामचन्द्रजी तथा सीताजी आदि सम्यग्दृष्टि थे।

सम्यग्दर्शन होने पर व्रतादि होना ही चाहिये और त्याग होना ही चाहिये - ऐसा कोई नियम नहीं है। हाँ ! इतना अवश्य है कि सम्यग्दर्शन होने पर विपरीत अभिप्राय का - मिथ्यामान्यता का त्याग अवश्य हो जाता है। **(आत्मधर्म : जून १९८२, पृष्ठ-२४)**

४९. प्रश्न – सम्यग्दृष्टि स्वर्ग से आता है, तब माता के पेट में ९ महिने में निर्विकल्प उपयोग आता होगा या नहीं ?

उत्तर – यह बात ख्याल में है, लेकिन शास्त्राधार कोई मिलता नहीं। विचार तो अनेक आते हैं, लेकिन शास्त्राधार तो मिलना चाहिये न ?

(आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ-२२)

५०. प्रश्न – क्या मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर – मतिज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है तो भी मतिज्ञान के समय आनंद का वेदन नहीं है। श्रुतज्ञान में आनंद का वेदन होता है अर्थात् श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन का आनंद आता है तो भी मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन होता है - ऐसा कहा जाता है।

(आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ-२५)

५१. प्रश्न – द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के विचार में भी मिथ्यात्व किस प्रकार है ?

उत्तर – भेद का विचारना कहीं मिथ्यात्व नहीं है। ऐसा भेदविचार तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है; किन्तु उस भेदविचार में जो रागरूप विकल्प है, उसे लाभ का कारण मानना और उसमें एकत्वबुद्धि करके अटक जाना मिथ्यात्व है।

एकत्वबुद्धि किये बिना मात्र भेदविचार मिथ्यात्व नहीं है, वह तो अस्थिरता का राग है। **(आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ-२४)**

५२. प्रश्न – नयपक्ष से अतिक्रान्त, ज्ञानस्वभाव का अनुभव करके उसकी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है - इसप्रकार सम्यग्दर्शन की विधि तो आपने बतलाई; परन्तु उस विधि को अमल में कैसे लावें ? विकल्प में से गुलाँट मार कर निर्विकल्प किसप्रकार हों ? वह समझाइए।

उत्तर – विधि यथार्थ समझ में आ जाय तो परिणति गुलाँट मारे बिना रहे नहीं।

विकल्प की और स्वभाव की जाति भिन्न-भिन्न है, ऐसा भान होते ही परिणति विकल्प में से छूटकर स्वभाव के साथ तन्मय हो जाती है। विधि को सम्यक्‌रूपेण जानने का काल और परिणति के गुलाँट मारने का काल; दोनों एक ही हैं।

विधि जानने के बाद उसे सिखाना नहीं पड़ता कि तुम ऐसा करो। जो विधि ज्ञात की है, उसी विधि से ज्ञान अन्तर में ढलता है।

सम्यक्त्व की विधि जाननेवाला ज्ञान स्वयं कहीं राग में तन्मय नहीं होता, वह तो स्वभाव में तन्मय होता है - और ऐसा ज्ञान ही सच्ची विधि को जानता है। राग में तन्मय रहनेवाला ज्ञान सम्यक्त्व की सच्ची विधि को नहीं जानता। **(आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ-२४)**

५३. प्रश्न – बन्धन का नाश निश्चय-सम्यग्दर्शन से होता है या व्यवहार-सम्यग्दर्शन से ?

उत्तर – जिसको निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ हो, उस जीव को व्यवहार-सम्यग्दर्शन में दोष (अतिचार) होने पर भी वह दोष दर्शनमोह

के बन्ध का कारण नहीं होता; क्योंकि निश्चय-सम्यग्दर्शन के सद्भाव में मिथ्यात्वसंबंधी बन्धन नहीं होता।

किसी जीव को व्यवहार-सम्यग्दर्शन तो बराबर हो, उसमें किंञ्चित् भी अतिचार न लगने देता हो; परन्तु उसे निश्चय-सम्यग्दर्शन नहीं है तो मिथ्यात्व या मोह का बन्ध बराबर होता रहता है।

व्यवहार-सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व को टालने में समर्थ नहीं है; अपितु निश्चय सम्यग्दर्शन ही मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होने देता। अत: यह सिद्धान्त निकला कि निश्चय से बन्ध का नाश होता है, व्यवहार से नहीं। (आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ-२८)

५४. **प्रश्न** – आत्मा में परिणमन के लिये प्रथम क्या करना चाहिये ?

उत्तर – प्रथम सत्समागम से सत्य वस्तुस्वरूप का श्रवण करना चाहिये।

जहाँ सत्य का श्रवण भी नहीं, वहाँ सत्य का ग्रहण तो हो ही कैसे सकता है? जहाँ ग्रहण नहीं, वहाँ धारण नहीं; जहाँ धारण नहीं, वहाँ रुचि नहीं; और जहाँ रुचि नहीं, वहाँ परिणमन भी नहीं होता।

जिसे आत्मा की रुचि होती है; उसे प्रथम श्रवण, ग्रहण और धारण होता ही है। इसके पश्चात् अन्तर में परिणमन करने की बात आती है। (आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ-२८)

५५. **प्रश्न** – आत्मख्याति को सम्यग्दर्शन कहा, आत्मप्रसिद्धि कहा, आत्मानुभव कहा, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर – त्रिकाली आत्मस्वभाव तो प्रसिद्ध ही था, वह कहीं रुका नहीं था; किन्तु अवस्था में पहले उसका भान नहीं था और अब उसका भान होने पर अवस्था में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि हुई। निर्मल अवस्था प्रगट होने पर द्रव्य-पर्याय की अभेदता से आत्मा ही प्रसिद्ध हुआ - ऐसा कहा है।

अनुभव में कहीं द्रव्य-पर्याय के भेद नहीं हैं।

रागमिश्रित विचार छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही एकाग्र हुआ - उसी का नाम आत्मख्याति है। उस आत्मख्याति को ही सम्यग्दर्शन कहा।

यद्यपि आत्मख्याति स्वयं तो ज्ञान की पर्याय है, किन्तु उसके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है; इसलिए उस आत्मख्याति को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है। (आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ-२७)

५६. **प्रश्न** – जब स्वाश्रय करे, तब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है अथवा जब सम्यग्दर्शन हो, तब स्वाश्रय होता है?

उत्तर – जिस पर्याय ने स्वाश्रय किया, वह स्वयं ही सम्यग्दर्शन है; अत: उसमें पहले-पीछे का भेद नहीं है। जो पर्याय स्वाश्रय में ढली वही सम्यग्दर्शन है। स्वाश्रितपर्याय और सम्यग्दर्शन भिन्न-भिन्न नहीं हैं। त्रिकाली स्वभावाश्रित ही मोक्षमार्ग है।

(वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ-२४)

५७. **प्रश्न** – आपश्री के द्वारा बताया गया आत्मा का माहात्म्य आने पर भी कार्य क्यों नहीं होता है ?

उत्तर – अन्दर जो अपूर्व माहात्म्य आना चाहिये, वह नहीं आता। एकदम उल्लसित होकर अन्दर से जो महिमा आनी चाहिये वह नहीं आती। भले धारणा में माहात्म्य आता हो।

(आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ-२२)

५८. **प्रश्न** – वास्तविक माहात्म्य लाने के लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर – एक आत्मा की ही यथार्थ में अन्दर से रुचि जगे और भव के भावों की थकान लगे तो आत्मा का अन्दर से माहात्म्य आये बिना रहता ही नहीं।

वास्तव में जिसे आत्मा चाहिए ही, उसको आत्मा मिलता ही है। श्रीमद् ने भी कहा है - छूटने का इच्छुक बँधता नहीं है।

(आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ-२१)

५९. **प्रश्न** – उपयोग में उपयोग है – इसका क्या मतलब ?

उत्तर – उपयोग में उपयोग अर्थात् सम्यग्दर्शन की निर्विकल्प परिणति में उपयोग अर्थात् त्रैकालिक आत्मा आता है।

आत्मा तो आत्मारूप-उदासीनरूप में विद्यमान है, निर्विकल्प होने पर शुद्धोपयोग में त्रैकालिक उपयोगस्वरूप आत्मा जाना जाता है।

(आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ-२४)

६०. प्रश्न – विकल्पसहित निर्णय करना सामान्य श्रद्धा और निर्विकल्प अनुभव करना विशेष श्रद्धा – क्या यह ठीक है ?

उत्तर – नहीं, श्रद्धा में सामान्य-विशेष का भेद है ही नहीं।

अखण्ड आत्मा की निर्विकल्प अनुभवसहित प्रतीति करना वही सम्यग्दर्शन है।

इस सम्यग्दर्शन करनेवाले जीव को प्रथम आत्मा ज्ञानस्वरूप है – ऐसा विकल्पसहित निर्णय होता है, तत्पश्चात् जब निर्विकल्प अनुभव करता है, तब पहले के विकल्पसहित किये गये निर्णय को व्यवहार कहा जाता है। **(आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ-२७)**

६१. प्रश्न – स्वानुभव करने के लिये छह मास तक अभ्यास करना बताया- वह अभ्यास क्या करना ?

उत्तर – राग वह मैं नहीं, ज्ञायक वह मैं हूँ - इसप्रकार ज्ञायक की दृढ़ता जिसमें हो वैसा बारम्बार अभ्यास करना।

(आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ-२७)

६२. प्रश्न – आत्मा की रुचि हो और सम्यग्दर्शन न हो सके तो अग्रिम भव में होगा क्या?

उत्तर – आत्मा की सच्ची रुचि हो उसे सम्यग्दर्शन होगा ही, अवश्य होगा।

यथार्थ रुचि और लक्ष्य होने पर सम्यग्दर्शन न हो, यह तीन काल में नहीं हो सकता।

वीर्य में हीनता नहीं होनी चाहिये, वीर्य में उत्साह और नि:शंकता होनी चाहिये। कार्य होगा ही – इसप्रकार हमारे निर्णय में आना चाहिये।

(आत्मधर्म : सितम्बर १९७९, पृष्ठ-२७)

६३. प्रश्न – धारणाज्ञान में यथार्थ जाने तो सम्यक्सन्मुखता कही जाय या नहीं ?

उत्तर – धारणाज्ञान में दृढ़संस्कार अपूर्व रीति से संस्कार डालें, अर्थात् पहले कभी नहीं डाले हों – ऐसे अपूर्व रीति से संस्कार डाले जावें तो सम्यक्सन्मुखता कही जाये। (आत्मधर्म : अक्टूबर १९८०, पृष्ठ-२४)

६४. प्रश्न – अन्तर में उतरने के लिये रुचि की आवश्यकता है या कोई अन्य भूल है जिसके कारण अन्तर में नहीं उतर पाता है ?

उत्तर – अन्तर में उतरने के लिये सच्ची रुचि की आवश्यकता है; किन्तु इस रुचि के सन्दर्भ में अन्य कोई क्या कह सकता है, स्वयं से ही निर्णय होना चाहिये। सच्ची रुचि हो तो आगे बढ़ता जाय और अपना कार्य कर ले। (आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ-२५)

६५. प्रश्न – क्या नव तत्त्व का विचार पाँच इन्द्रियों का विषय है? नवतत्त्व के विचारक को किसका अवलम्बन है?

उत्तर – नव तत्त्व का विचार पाँच इन्द्रियों का विषय नहीं है, पाँच इन्द्रियों के अवलम्बन से नव तत्त्व का निर्णय नहीं होता अर्थात् नव तत्त्व का विचार करनेवाला जीव पंचेन्द्रिय के विषयों से तो हट गया है।

अभी मन का अवलम्बन है; परन्तु वह जीव मन के अवलम्बन में अटकना नहीं चाहता, वह तो मन का अवलम्बन भी छोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव करना चाहता है।

स्वलक्ष्य से राग का नकार और स्वभाव का आदर करनेवाला भाव निमित्त और राग की अपेक्षा से रहित भाव है, उसमें जो भेद के अवलम्बन की रुचि छोड़कर अभेद स्वभाव के अनुभव करने की रुचि

का जोर वर्त रहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण है।

(आत्मधर्म : अप्रेल १९८४, पृष्ठ-२६)

६६. **प्रश्न** – नव तत्त्व का विचार तो पहले अनन्तबार कर चुके हैं; फिर भी लाभ क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर – भाई ! पहले जो नव तत्त्व का विचार कर चुके हो, उससे इसमें कुछ विशेषता है।

पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, वह तो अभेदस्वरूप के लक्ष्य बिना किया था, जबकि यहाँ अभेदस्वरूप के लक्ष्य सहित की बात है।

पहले अकेले मन के स्थूल विषय से नव तत्त्व के विचाररूप आँगन तक तो अनन्तबार आया है; परन्तु उससे आगे बढ़कर विकल्प तोड़कर ध्रुव चैतन्यतत्त्व में एकपने की श्रद्धा करने की अपूर्व समझ से वञ्चित रहा; इसलिये भवभ्रमण खड़ा रहा। (आत्मधर्म : अप्रेल १९८४, पृष्ठ-२५)

६७. **प्रश्न** – शुभभाव में गर्भित शुद्धता कही गई है; उसीप्रकार मिथ्याश्रद्धान में गर्भित शुद्धता है क्या?

उत्तर – नहीं; मिथ्याश्रद्धानयुक्त पर्याय विपरीत ही है, उसमें गर्भित शुद्धता नहीं है।

ज्ञान में निर्मलता विशेष है, ज्ञान के अंश को निर्मल कहा है और वह वृद्धिगत होकर केवलज्ञान होता है।

तथा शुभ में गर्भित शुद्धता का अंश कहा है, किन्तु ग्रंथिभेद (सम्यग्दर्शन) होने के बाद ही वह शुद्धता काम करती है।

(आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ-२७)

६८. **प्रश्न** – "घटघट अन्तर जिन बसै, घटघट अन्तर जैन" – इसका क्या अर्थ है?

उत्तर – प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप से तो 'जिन' ही है।

घटघट अन्तर जैन – अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहते हुए चक्रवर्ती के ९६००० रानियाँ होती हैं, इन्द्र के करोड़ों अप्सरायें होती हैं, अनेक प्रकार के वैभव बाह्य में होते हैं; तथापि सम्यग्दृष्टि अन्दर में जैन है, राग से भिन्न पड़ा होने से सच्चा जैन है।

जिसने बाहर से हजारों स्त्रियाँ छोड़ दी हो, त्यागी बन गया हो, किन्तु राग से भिन्न न हुआ हो तो वह वास्तविक जैन नहीं है। उसने राग को मन्द तो किया है, किन्तु राग से भिन्नत्व का अनुभव नहीं किया, इसलिए जैन नहीं है। (आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ-२४)

६९. **प्रश्न** – राग से छुटकारा कैसे मिले?

उत्तर – एकान्त दुःख के जोर से राग से छुटकारा मिल जाय – ऐसा बनता नहीं।

हाँ, द्रव्यदृष्टि के जोर से राग से छुटकारा मिल सकता है। आत्मा को पहिचाने बिना, जाने बिना जावें कहाँ?

आत्मा को जाना हो, उसका अस्तित्व ग्रहण किया हो, तो राग से छूटकर आत्मा में लीन हो सकता है। (आत्मधर्म : मई १९७९, पृष्ठ-२४)

७०. **प्रश्न** – आत्मा की रुचिवाला जीव मरकर देव में ही जाता है न?

उत्तर – हाँ, तत्त्व की रुचि है, वाचन-श्रवण है, भक्ति, पूजा आदि है' – इनका करनेवाला तो देव ही होता है। कोई साधारण हो तो वह मनुष्य होता है। (आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ-२७)

७१. **प्रश्न** – देव होता है तो कैसा देव होता है?

उत्तर – वह तो अपनी योग्यतानुसार भवनत्रिक या वैमानिक में जाय, तथा आत्मानुभवी तो वैमानिक में ही जाय।

(आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ-२७)

सम्यग्ज्ञान

१. प्रश्न – सम्यग्ज्ञान प्रकट करने के लिए क्या करना चाहिए?

उत्तर – चैतन्य सामान्य द्रव्य पर दृष्टि करना चाहिए और उसके पहिले सात तत्त्वों का स्वरूप इसके ख्याल में आना चाहिए। विकल्प सहित सात तत्त्वों का निर्णय होना चाहिए।

(आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ-२१)

२. प्रश्न – द्वादशांग का सार क्या है?

उत्तर : अनन्त केवली, मुनिराज और सन्त ऐसा कहते हैं कि स्वद्रव्य का आश्रय करो और परद्रव्य का आश्रय छोड़ो। स्वभाव में रत हो और परभाव से विरक्त, यही बारह अंग का सार है।

(आत्मधर्म : जुलाई १९७८, पृष्ठ-२६)

३. प्रश्न – एक आत्मा के ही सन्मुख होना है तो इसके लिए इतने अधिक शास्त्रों की रचना आचार्यदेव ने क्यों की?

उत्तर – इस जीव की भूलें इतनी अधिक हैं कि उन्हें बतलाने के लिए इतने अधिक शास्त्रों की रचना हुई है, की नहीं गई है, पुद्गल से हुई है। **(आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ-२१)**

४. प्रश्न – पर के लक्ष्य से आत्मा में नहीं जाते – यह तो ठीक है, तो क्या शास्त्र-बाँचन से भी आत्मा में नहीं जाते?

उत्तर – हाँ, शास्त्र बाँचने के विकल्प से भी आत्मा में नहीं जाते।

(आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ-२५)

५. प्रश्न – तो क्या हमें शास्त्र नहीं बाँचना चाहिये?

उत्तर – आत्मा के लक्ष्य से शास्त्राभ्यास करना – ऐसा श्री प्रवचनसार में कहा है। श्री समयसार की प्रथम गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि तू अपनी पर्याय में सिद्धों की स्थापना करके सुन। इसका अर्थ यह हुआ कि तू सिद्धस्वरूप है – ऐसी श्रद्धा-प्रतीति करके सुन। सिद्धस्वरूप में

दृष्टि जोड़ी है अर्थात् सुनते और बाँचते हुए भी स्वरूप में एकाग्रता की वृद्धि होगी। (आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ-२५)

६. प्रश्न – एक स्थान पर तो ऐसा कहा कि आत्मा के लक्ष्य से आगम का अभ्यास करो इससे तुम्हारा कल्याण होगा, और दूसरे स्थान पर ऐसा कहा कि शास्त्र की ओर होनेवाले राग को भी छोड़ दो। ऐसा क्यों?

उत्तर – पर की तरफ का लक्ष्य बन्ध का कारण होने से शास्त्र की तरफ का राग भी छुड़ाया है और जहाँ आगम का अभ्यास करने के लिये कहा, वहाँ उस आगमाभ्यास में आत्मा का लक्ष्य है, इसलिये व्यवहार से उस आगमाभ्यास को कल्याण का कारण कहा है।

(आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ-२६)

७. प्रश्न – शास्त्र द्वारा मन से आत्मा जाना हो, उसमें आत्मज्ञान हुआ कि नहीं?

उत्तर – यह तो शब्दज्ञान हुआ, आत्मा जानने में नहीं आया; आत्मा तो आत्मा से जाना जाता है। शुद्ध उपादान से हुए ज्ञान में साथ में आनन्द आता है; किन्तु अशुद्ध उपादान से हुए ज्ञान में साथ में आनन्द नहीं आता और आनन्द आए बिना आत्मा वास्तव में जानने में नहीं आता। (आत्मधर्म : जून १९७८, पृष्ठ-२४)

८. प्रश्न – शास्त्र द्वारा आत्मा को जाना और बाद में परिणाम आत्मा में मग्न हुए – इन दोनों में आत्मा के जानने में क्या अन्तर है?

उत्तर – अनन्त गुना अन्तर है। शास्त्र से जानपना किया, यह तो साधारण धारणारूप जानपना है और आत्मा में मग्न होकर अनुभव में आत्मा को प्रत्यक्ष वेदन से जानता है। अतः इन दोनों में भारी अन्तर है।

(आत्मधर्म : सितम्बर १९७७, पृष्ठ-२७)

९. प्रश्न – क्या इन्द्रियज्ञान आत्मज्ञान का कारण नहीं है?

उत्तर – ग्यारह अंग और नौ पूर्व की लब्धिवाला ज्ञान भी खण्ड-खण्ड ज्ञान है, आत्मा का ज्ञान नहीं। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, इन्द्रियज्ञान वह आत्मा नहीं। आँख से हजारों शास्त्र बाँचे और कान से सुने, वह सब इन्द्रियज्ञान है, आत्मज्ञान नहीं। आत्मा अतीन्द्रियज्ञान से जाननेवाला है; इन्द्रियज्ञान से जाने, वह आत्मा नहीं। आत्मा को जानने पर जो आनन्द का स्वाद आता है, वह स्वाद इन्द्रियज्ञान से नहीं आता; अतः इन्द्रियज्ञान आत्मा नहीं है। **(आत्मधर्म : सितम्बर १९७८, पृष्ठ-२६)**

१०. प्रश्न – अनुमानज्ञान से आत्मा को जाननेवाले की पर्याय में भूल है या आत्मा जानने में भूल है?

उत्तर – अनुमानज्ञान वाले ने आत्मा को यथार्थ जाना ही नहीं, अतः आत्मा के जानने में भूल है।

स्वानुभव प्रत्यक्ष से ही आत्मा जैसा है, वैसा जानने में आता है।

अनुमान से तो शास्त्र और सर्वज्ञ जैसा कहते हैं, वैसा आत्मा को जानता है, परन्तु यथार्थ तो स्वानुभव में ही ज्ञात होता है।

स्वानुभव के बिना आत्मा यथार्थ जानने में नहीं आता।

(आत्मधर्म : सितम्बर १९७९, पृष्ठ-२८)

११. प्रश्न – भगवान की वाणी से भी आत्मा जानने में नहीं आता, तो फिर आप ही बतलाइए कि वह आत्मा कैसे जानने में आता है?

उत्तर – भगवान की वाणी वह श्रुत है – शास्त्र है और शास्त्र पौद्गलिक है, अतः वह ज्ञान नहीं है – उपाधि है, तथा उस श्रुत से होने वाला ज्ञान भी उपाधि है; क्योंकि उस श्रुत के लक्ष्यवाला ज्ञान परलक्षी ज्ञान है और परलक्ष्य से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान स्व को जान सकता नहीं, अतः उसको भी श्रुत के समान उपाधि कहा गया।

जिसप्रकार सूत्र शास्त्र ज्ञान नहीं है, बाहर की चीज है – उपाधि है; उसीप्रकार उस श्रुत के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान भी बाहर की चीज है – उपाधि है।

अहाहा! कैसी अनोखी है, वीतराग की शैली? परलक्षी ज्ञान को भी श्रुत के समान उपाधि कहा है। स्वज्ञानरूप ज्ञप्तिक्रिया से आत्मा जानने में आता है, परन्तु भगवान की वाणी से आत्मा जानने में नहीं आता। **(आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ-२४)**

१२. प्रश्न – ग्यारह अंग और नव पूर्व का ज्ञानी पंच महाव्रत का पालन करे, तथापि आत्मज्ञान करने में अब उसे और क्या शेष रह गया है?

उत्तर – ग्यारह अंग का ज्ञान तथा पंच महाव्रत का पालन करने पर भी उसे भगवान आत्मा का अखण्डज्ञान करना शेष रह गया है।

ग्यारह अंग का खण्ड-खण्ड इन्द्रियज्ञान किया था, वह खण्ड-खण्ड ज्ञान परवश होने से दुःख का कारण था।

अखण्ड आत्मा का ज्ञान किये बिना वह ग्यारह अंग का ज्ञान नाश को प्राप्त होने पर कालक्रम से वह जीव निगोद में भी चला जाता है।

अखण्ड आत्मा का ज्ञान करना ही मूलवस्तु है। इसके बिना भव-भ्रमण का अन्त नहीं।

(आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ-२६)

१३. प्रश्न – आचार्यदेव ने केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में किस अपेक्षा से समानता कही है ?

उत्तर – जैसे भगवान केवली केवलज्ञान से आत्मा का अनुभव करने से केवली हैं, वैसे ही हम भी श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध-आत्मा का अनुभव करने से श्रुतकेवली हैं – ऐसा आचार्यदेव कहते हैं। अतः

विशेष जानने की आकांक्षा से बस होओ! स्वरूप निश्चलता ही बनी रहे।

आहाहा ! देखो मुनि अपनी दशा की बात करते हैं कि केवली की तरह हम भी केवल शुद्धात्मा का अनुभव करने से श्रुतकेवली हैं।

जिसप्रकार अमृतकुण्ड को कोई सूर्य के प्रकाश से देखे और कोई उसी को दीपक के प्रकाश से देखे तो दृष्टिगोचर वस्तु में कोई अन्तर नहीं है; उसीप्रकार केवली तो केवलज्ञान-सूर्य से अमृतकुम्भ आत्मा को देखते हैं और श्रुतकेवली दीपक समान श्रुतज्ञान से अमृतकुम्भ आत्मा को देखते हैं।

यद्यपि सूर्य और दीपक के प्रकाश में अन्तर है; तथापि उनके द्वारा देखी गई वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा कहकर केवली के साथ श्रुतकेवली की समानता की है। (आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ-२१)

१४. प्रश्न – सूक्ष्म उपयोग का अर्थ क्या है?

उत्तर – अन्दर आत्मा ध्रुववस्तु पड़ी है, उसको पकड़नेवाला उपयोग सूक्ष्म है। जो पुण्य-पाप के परिणामों में ही रुक जाये, वह उपयोग स्थूल है। (आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ-२३)

१५. प्रश्न – उपयोग सूक्ष्म कैसे हो?

उत्तर – अन्दर में आत्मवस्तु अचिंत्य सामर्थ्यवाली पड़ी है, उसकी रुचि करे तो उपयोग सूक्ष्म होकर अन्दर में झुकता है।

(आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ-२३)

१६. प्रश्न – धारणा का विषय आत्मा है या नहीं?

उत्तर – बाहर के उघाड़ से होनेवाली धारणा का विषय आत्मा नहीं है; किन्तु सम्यक् -मतिज्ञान में आत्मा को जानकर जो धारणा हुई, उसका विषय आत्मा है; इस धारणा से ज्ञानी पुनः-पुनः आत्मा का स्मरण करता है। (आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ-२४)

१७. प्रश्न – स्मरण होता है अर्थात् निर्विकल्पदशा हो जाती है?

उत्तर – स्मरण ही निर्विकल्पता है। निर्विकल्प स्मरण में अतीन्द्रिय आनन्द की माला फिरती है। इस निर्विकल्प स्मरण से मोह छूटता है; विकल्प से तो मोह नहीं छूट सकता।

(आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ-२४)

१८. प्रश्न – सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान में भेद और उनका फल बतलाते हुये स्पष्ट कीजिये कि सम्यग्दृष्टि इनमें से अपना ज्ञान किसे मानता है?

उत्तर – विषयों में एकाकार हुये ज्ञान को विशेषज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान कहते हैं और उनका लक्ष्य छोड़कर अकेले सामान्यज्ञान-स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न हुये ज्ञान को सामान्यज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

ज्ञानस्वभाव में एकाकार होकर प्रगट हुये ज्ञान को सामान्यज्ञान-वीतरागी ज्ञान कहते हैं, उसी को जैनशासन अथवा आत्मानुभूति कहते हैं।

सामान्यज्ञान में आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है।

विशेषज्ञान अर्थात् इन्द्रियज्ञान में आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं आता है; परन्तु आकुलता और दुख का स्वाद आता है।

परद्रव्य का अवलम्बन लेकर जो ज्ञान होता है, वह विशेष ज्ञान है। भगवान की वाणी सुनकर जो ज्ञान हुआ वह इन्द्रियज्ञान है,विशेषज्ञान है; वह आत्मा का ज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान, सामान्यज्ञान नहीं है।

ज्ञानी को आत्मा का ज्ञान हुआ है, उस सामान्यज्ञान को ज्ञानी अपना ज्ञान जानता है और पर को जानता हुआ इन्द्रियज्ञान जो अनेकाकाररूप परसत्तावलम्बी ज्ञान होता है, उसको अपना ज्ञान मानता नहीं।

जैसे परज्ञेय को अपना मानता नहीं, वैसे ही पर के ज्ञान को भी अपना ज्ञान मानता नहीं। जिसमें आनन्द का स्वाद आता है, ऐसे आत्मज्ञान को ही अपना ज्ञान मानता है।

(आत्मधर्म : मई १९७९, पृष्ठ-२५)

१९. प्रश्न – आत्मज्ञान हो जाने पर तो यह व्रतादि राग है, ऐसा भासित हो जाता है; परन्तु प्रथम तो आत्मज्ञान जल्दी होता नहीं है न?

उत्तर – जल्दी का क्या अर्थ ? इसका अभ्यास करना चाहिये कि राग क्या है? आत्मा क्या है? मैं त्रिकाल टिकनेवाली चीज कैसी हूँ? इत्यादि अभ्यास करके, ज्ञान करके, राग से भिन्न आत्मा का अनुभव करना – यह पहली वस्तु है।

आत्मा को जाने बिना समस्त क्रियाकाण्ड व्यर्थ हैं। आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप भगवान चैतन्य का पुँज प्रभु है। उसका ज्ञान न हो, अन्तरदशा का वेदन न हो, तबतक उसका क्रियाकाण्ड सब झूठा है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है। अत: सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। (आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ-२४)

२०. प्रश्न – अपने ही सत् का ज्ञान करना क्यों महत्त्वपूर्ण है, पर सत् का क्यों नहीं?

उत्तर – अपनी अपेक्षा से अन्य सभी परद्रव्य असत् हैं, स्वयं ही सत् है। स्वयं ही अपना ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप सत् है; अत: अपने ही सत् का ज्ञान करना। अपने सत् का ज्ञान करने से अतीन्द्रिय आनन्द की झलक आये बिना नहीं रहेगी, यदि आनन्द न आवे तो समझ लो कि हमने अपने सत् का सच्चा ज्ञान किया ही नहीं। मूल में तो अन्तर में झुकना-रमणता करना ही सर्व सिद्धांत का सार है।

(आत्मधर्म : मार्च १९७९, पृष्ठ-२५)

२१. प्रश्न – क्या खण्ड-खण्ड ज्ञान - इन्द्रियज्ञान भी संयोगरूप है ?

उत्तर – हाँ, वास्तव में तो खण्ड-खण्ड ज्ञान भी त्रिकालीस्वभाव की अपेक्षा से संयोगरूप है। जैसे इन्द्रियाँ संयोगरूप हैं, वैसे वह भी संयोगरूप है। जिसप्रकार शरीर, ज्ञायक से अत्यन्त भिन्न है; उसीप्रकार खण्ड-खण्ड ज्ञान – इन्द्रियज्ञान भी ज्ञायक से भिन्न है, संयोगरूप है; स्वभावरूप नहीं। (आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ-२४)

२२. प्रश्न – क्या ज्ञानी की प्ररूपणा में असत् की प्ररूपणा भी आती है ?

उत्तर – नहीं, ज्ञानी की वाणी में असत् की प्ररूपणा नहीं आती। ज्ञानी के अस्थिरता तो होती है, किन्तु उसकी प्ररूपणा में असत् कथन नहीं आता।

व्यवहार से निश्चय होता है, राग से लाभ होता है अथवा राग से धर्म होता है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य कर सकता है - ऐसी प्ररूपणा को असत् प्ररूपणा कहते हैं।

(आत्मधर्म : जुलाई १९७८, पृष्ठ-२४)

२३. प्रश्न – पंचास्तिकाय को अर्थी होकर सुने - इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर – अर्थी होकर अर्थात् सेवक होकर, दास होकर सुनना।

जैसे किसी बड़े आदमी के पास याचक होकर मांगा जाता है; उसीप्रकार गुरु के पास पात्र शिष्य याचक होकर सुनता है।

मैं भी कुछ जानता हूँ - इसप्रकार अभिमानपूर्वक नहीं सुनता, किन्तु गरजमन्द होकर अपना हित करने के लिए सुनता है। अपने ज्ञान में पंचास्तिकाय को जानता है – निर्णय करता है।

(आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ-२४)

२४. प्रश्न – परसत्तावलम्बी ज्ञान शुद्धात्मा का निर्णय करता है, क्या वह ज्ञान भी व्यर्थ है ?

उत्तर – परोन्मुख ज्ञान से सविकल्प निर्णय होता है, वह वास्तव में शुद्धात्मा का निर्णय नहीं कहा जाता।

स्वसन्मुख होकर निर्विकल्पता में जो निर्णय होता है, वही शुद्धात्मा का सच्चा निर्णय है। **(आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ-२१)**

२५. प्रश्न – जो सविकल्प ज्ञान किनारे तक ले जाता है, उसको व्यर्थ क्यों कहा जाता है?

उत्तर – सविकल्प ज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता। स्व-सन्मुख ज्ञान से शुद्धात्मा का स्वानुभवपूर्वक निर्णय होता है।

(आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ-२१)

२६. प्रश्न – व्यवस्थित जानना ज्ञान का स्वभाव है क्या?

उत्तर – आत्मा ज्ञानस्वरूप है और उसकी केवलज्ञानादि पाँच पर्यायें हैं। केवलज्ञान अपने गुण के व्यवस्थित कार्य को जानता है। उसी प्रकार मतिज्ञान भी अपने गुण के व्यवस्थित कार्य को जानता है, पर के कार्य को भी व्यवस्थित जानता है। श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान भी अपने-अपने गुण के व्यवस्थित कार्य को तथा पर के कार्य को भी व्यवस्थित जानते हैं। व्यवस्थित जानना उनका स्वभाव है।

आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप है अर्थात् उसकी पर्याय, गुण और द्रव्य-बस, मात्र ज्ञाता ही हैं, फेरफार करनेवाले नहीं। अपने में भी कोई फेर-फार करना नहीं है। जैसा व्यवस्थित कार्य होता है, वैसा जानता है। अहाहा! देखो तो सही! वस्तु ही ऐसी है। अन्दर में तो खूब गम्भीरता से चलता है, परन्तु कथन में तो.....।

(आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ-२६)

२७. **प्रश्न** – वर्तमान पर्याय में अधूरा ज्ञान है, उस अधूरे ज्ञान में पूरे ज्ञानस्वभाव का ज्ञान कैसे हो?

उत्तर – जैसे आँख छोटी होने पर भी सारे शरीर को जान लेती है, उसीप्रकार पर्याय में ज्ञान का विकास अल्प होने पर भी यदि वह ज्ञान स्व-सन्मुख हो तो पूर्णज्ञानस्वरूपी शुद्धात्मा को स्वसंवेदन से जान लेता है। केवलज्ञान होने से पहले अपूर्णज्ञान में भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से पूर्ण-ज्ञानस्वरूपी आत्मा का निःसंदेह निर्णय होता है।

जैसे शक्कर की अल्पमात्रा से सम्पूर्ण शक्कर के स्वाद का निर्णय हो जाता है, वैसे ही ज्ञान की अल्पपर्याय को अन्तर्मुख करने पर उसमें पूर्ण ज्ञानस्वभाव का निर्णय हो जाता है। पूर्णज्ञान होने पर ही पूर्ण आत्मा को जाना जाय - ऐसी बात नहीं है।

यदि अपूर्णज्ञान पूर्ण आत्मा को न जान सके, तो कभी भी सम्यग्ज्ञान ही नहीं हो सके; इसलिए अपूर्णज्ञान भी स्वसन्मुख होकर पूर्ण आत्मा को जान लेता है। **(वीतराग-विज्ञान : सितम्बर १९८३, पृष्ठ-२२)**

२८. **प्रश्न** – उपयोग का पर से हनन नहीं होता - इसका क्या अर्थ?

उत्तर – प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के नौवें बोल में उपयोग का पर से हनन नहीं होता - ऐसी बात आई है। हनन अर्थात् नाश। मुनि को चारित्रदशा होती है और वे स्वर्ग में जाते हैं, वहाँ चारित्रदशा तो नाश को प्राप्त हो जाती है तो भी स्व के लक्ष्य से जो उपयोग हुआ है, वह नाश नहीं होता। स्व के लक्ष्य से उपयोग हुआ है। वह तो अप्रतिहित हुआ है - नाश नहीं होता।

(आत्मधर्म : सितम्बर १९७८, पृष्ठ-२६)

सम्यक्चारित्र

१. प्रश्न – धर्म क्या है? अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग क्या है?

उत्तर – चारित्तं खलु धम्मो अर्थात् चारित्र वास्तव में धर्म है, वही साक्षात् मोक्षमार्ग है। **(आत्मधर्म : अक्टूबर १९७६, पृष्ठ-२६)**

२. प्रश्न – चारित्र का अर्थ क्या है?

उत्तर – शुद्ध-ज्ञानस्वरूप आत्मा में चरना - प्रवर्तन करना सो चारित्र है। **(आत्मधर्म : अक्टूबर १९७६, पृष्ठ-२३)**

३. प्रश्न – ऐसे चारित्र के लिए प्रथम क्या करना चाहिए?

उत्तर – चारित्र के लिए प्रथम तो स्व-पर के यथार्थ स्वरूप का निश्चय करना चाहिए, क्योंकि उसमें एकाग्र होना है। वस्तु के स्वरूप का निश्चय किए बिना उसमें स्थिर कैसे होगा? इसलिए प्रथम जिसमें स्थिर होना है, उस वस्तु के स्वरूप का निश्चय करना चाहिए।

(आत्मधर्म : अक्टूबर १९७६, पृष्ठ-२३)

४. प्रश्न – 'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र वास्तव में धर्म है - ऐसा कहा, उस चारित्र का स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रथम क्या करना चाहिए?

उत्तर – शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मा में चरना-प्रवर्तना, वह चारित्र है। चारित्र के लिए प्रथम तो स्व-पर के यथार्थस्वरूप का निश्चय करना चाहिए; क्योंकि जिसमें एकाग्र होना है, उस वस्तु के स्वरूप का निश्चय किये बिना उसमें स्थिर कैसे होगा? अतः जिसमें स्थिर होना हो, उस वस्तु के स्वरूप का प्रथम ही निश्चय करना चाहिए।

(आत्मधर्म : अगस्त १९८२, पृष्ठ-२४)

५. प्रश्न – वस्तु के स्वरूप का निश्चय किसप्रकार करना चाहिए?

उत्तर – इस जगत में मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ। मेरे से भिन्न जगत के समस्त जड़-चेतन पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं। विश्व के पदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मेरा नहीं है। कोई भी पदार्थ मेरा नहीं और मैं किसी के कार्य का कर्त्ता नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावसामर्थ्य से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप से परिणमित हो रहा है, उसके साथ मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जो जीव ऐसा निर्णय करता है, वही पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर निजस्वरूप में उपयोग को जोड़ता है और उसे ही स्वरूप में चरणरूप चारित्र होता है।

इसप्रकार चारित्र के लिए प्रथम वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए। (आत्मधर्म : अगस्त १९८२, पृष्ठ-२४)

६. प्रश्न – ऐसा समझने पर तो कोई जीव व्रत और त्याग करेगा ही नहीं?

उत्तर – कौन त्याग करता है और किसका त्याग करता है? परवस्तु का तो ग्रहण-त्याग कोई जीव कर ही नहीं सकता, मात्र अपने विकार का ही त्याग किया जा सकता है। (आत्मधर्म : जून १९८२, पृष्ठ-२४)

७. प्रश्न – विकार का त्याग कौन कर सकता है ?

उत्तर – जिसको विकार से भिन्न स्वभाव की प्रतीति हुई हो, वही जीव विकार का त्याग कर सकता है। राग से भिन्न आत्मस्वभाव को जाने बिना राग का त्याग कैसे करेगा ?

सम्यग्दर्शन द्वारा राग से भिन्न स्वभाव की श्रद्धा करने के पश्चात् ही राग का यथार्थरूप से त्याग हो सकता है।

जो जीव अपने शुद्धस्वभाव को तो जानता नहीं है और राग के साथ एकत्व मानता है, वह जीव राग का त्याग नहीं कर सकता, इसलिये इसे समझने के बाद ही सच्चा त्याग हो सकता है।

सच्चा त्याग तो सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, मिथ्यादृष्टि को तो किसका त्याग करें और किसका ग्रहण करें - इसका भान ही नहीं है; अत: उसका त्याग सच्चा नहीं होता। (आत्मधर्म : जून १९८२, पृष्ठ-२४)

८. **प्रश्न** – पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करनेवाला जीव कैसा होता है ?

उत्तर – वह जीव अपने आत्मा को कृत निश्चय, निष्क्रिय तथा निर्भोग देखता है। उसे स्व-पर के स्वरूप संबंधी संदेह दूर हो गया है। परद्रव्य की किसी भी क्रिया को वह आत्मा की नहीं मानता तथा अपने आत्मा को परद्रव्य में प्रवृत्तिरूप क्रिया से रहित-निष्क्रिय देखता है; परद्रव्य के उपभोग रहित निर्भोग देखता है। ऐसे अपने स्वरूप को देखता हुआ वह जीव संदेह तथा व्यग्रता रहित होता हुआ, निजस्वरूप में एकाग्र होता है। निजस्वरूप की धुन का धुनी होकर उसमें स्थिर होता है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को ही चारित्र होता है। (आत्मधर्म : अक्टूबर १९७६, पृष्ठ-२४)

९. **प्रश्न** – मोक्षमार्ग की साधक मुनिदशा किसे होती है ?

उत्तर – उपरोक्तानुसार वस्तुस्वरूप का निर्णय करके उसमें जो एकाग्र होता है, उसी को श्रामण्य होता है। (आत्मधर्म : अक्टूबर १९७६, पृष्ठ-२४)

१०. **प्रश्न** – श्रामण्य का दूसरा नाम क्या है ?

उत्तर – श्रामण्य का दूसरा नाम मोक्षमार्ग है। जहाँ मोक्षमार्ग है, वहीं श्रामण्य है। जिसे मोक्षमार्ग नहीं है, उसे श्रामण्य भी नहीं है।

(आत्मधर्म : अक्टूबर १९७६, पृष्ठ-२४)

११. **प्रश्न** – मुनिराज तो महाव्रतादि पालते हैं, उन्हें आस्रवभाव क्यों कहा ? वे तो चारित्र हैं ?

उत्तर – धवला भाग-१ और १२ में आता है कि मुनि पंच महाव्रत को 'भुक्ति' अर्थात् भोगते हैं; परन्तु पंच महाव्रत को करते हैं अथवा पालते हैं - ऐसा नहीं कहा।

जैसे जगत के जीव अशुभराग को भोगते हैं, वैसे ही मुनि भी शुभराग को भोगते हैं।

समयसार आदि अध्यात्मशास्त्रों में तो ऐसा लेख आता ही है; परन्तु व्यवहार के ग्रंथ धवला में भी मुनि पंच महाव्रत के शुभराग को भोगते हैं - ऐसा कहा है।

कम्बल या गलीचा आदि पर छपा हुआ सिंह किसी को मार नहीं सकता। वह तो कथन मात्र ही सिंह है। उसीप्रकार अन्तर्जल्प-बाह्यजल्प बाह्य क्रियारूप चारित्र है, वह कथनमात्र चारित्र है। सच्चा चारित्र नहीं है; कारण कि वह आत्मद्रव्य के स्वभावरूप नहीं है। पुद्‌गल द्रव्य के स्वभावरूप होने से वह कर्म के उदय का कार्य है।

भले ही अशुभ से बचने के लिये शुभ होता है; परन्तु है तो वह बंध का ही कारण, मोक्ष का कारण तो है नहीं।

(आत्मधर्म : जून १९७८, पृष्ठ-२६)

१२. प्रश्न – अभेदस्वरूप आत्मा की अनुभूति हो जाने के पश्चात् व्रतादि करने से क्या लाभ?

उत्तर – शुद्धात्मा का अनुभव होने के बाद पंचम-षष्ठम गुणस्थानों में उस-उसप्रकार का राग भूमिकानुसार आये बिना रहता नहीं। वह शुभ राग बंध का ही कारण है और हेय है - ऐसा ज्ञानी जानता है।

शुद्धता की वृद्धि अनुसार कषाय घटती जाती होने के कारण व्रतादि का शुभराग आये बिना रहता ही नहीं - ऐसा ही स्वभाव है।

(आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ-२६)

१३. प्रश्न – व्रत-तप आदि सब विकल्प हैं तो इन्हें करना या नहीं ?

उत्तर – करने न करने की बात नहीं। सम्यग्दर्शन के बाद पाँचवें गुणस्थान में जो विकल्प आते हैं, वे शुभ राग हैं, धर्म नहीं; ऐसा ज्ञानी जानते हैं। मिथ्यादृष्टि को ऐसे विकल्प आने पर शुभराग से पुण्य बँधता है - पर वह उस राग से धर्म मानता है, उसे अपना स्वरूप मानता है, अत: मिथ्यात्व भी बँधता है।

शुभ छोड़कर अशुभ में जाने की बात नहीं है; परन्तु शुभराग अपना स्वरूप नहीं - ऐसा जानकर शुद्धता प्रगट करने की बात है।

(आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ-२५)

१४. प्रश्न – सच्चा समताभाव किसे होता है ?

उत्तर – स्व-पर तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं - ऐसा स्वतंत्र वस्तुस्वरूप समझे नहीं और वस्तु को पराधीन माने, उसे सच्चा समताभाव नहीं हो सकता।

वस्तुस्वरूप को पराधीन मानने की मान्यता में ही अनन्त विषमभाव पड़ा है। भले बाहर से क्रोधी न दिखाई पड़े और मन्दकषाय रखता हो, तथापि जहाँ वस्तुस्वरूप का भान नहीं है, वहाँ समता का अंश भी नहीं होता। आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अनादर ही महान विषमभाव है।

प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं। मेरा स्वभाव तो मात्र सबको जानने का है - इसप्रकार वस्तु-स्वातन्त्र्य को जानकर अपने ज्ञानस्वभाव का आदर करना ही सच्चा समभाव है।

(वीतराग-विज्ञान : नवम्बर १९८३, पृष्ठ-२५-२६)

१५. प्रश्न – इस धर्म में कहीं त्याग या ग्रहण करने की बात तो आई ही नहीं ?

उत्तर – इसमें ही यथार्थ ग्रहण - त्याग की बात आ जाती है। ग्रहण या त्याग किसी बाह्यवस्तु का तो हो नहीं सकता, वह तो अन्तर में ही होता है। बाह्यवस्तु को ग्रहण-त्याग कर सकने की मान्यता तो अधर्म है। भले ही ऐसी मान्यतावाला जीव हरितकाय का त्यागी हो और भगवान के नाम का जप करता हो, तथापि वह अधर्मी है।

मैं पर वस्तु का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ अथवा राग व मंद कषाय से मुझे धर्म होगा- ऐसी विपरीत मान्यता का त्याग और जड़ एवं विकार से भिन्न अन्तर में अपना स्वभाव पूर्ण ज्ञायकमूर्ति है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता का ग्रहण ही धर्म है। श्रद्धा में पूर्णस्वभाव का ग्रहण और अपूर्णता का त्याग धर्म है।

(वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ-२४-२५)

१६. प्रश्न – क्या त्याग धर्म नहीं है?

उत्तर – सम्यग्दर्शनपूर्वक जितने अंश में वीतरागभाव प्रगट हुआ, उतने अंश में कषाय का त्याग हुआ। सम्यग्दर्शनादि अस्तिरूप धर्म है और मिथ्यात्व व कषाय का त्याग नास्तिरूप धर्म है। सम्यग्दर्शन रहित त्याग धर्म नहीं है, यदि मन्दकषाय हो तो पुण्यबन्ध है।

(वीतराग-विज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ-२८)

१७. प्रश्न – धर्म और अधर्म का आधार किस पर है?

उत्तर – एक तरफ संयोग और दूसरी तरफ स्वभाव - दोनों एक ही समय हैं। वहाँ दृष्टि किस पर पड़ी है - इस पर धर्म-अधर्म का आधार है।

संयोग पर दृष्टि है तो अधर्म होता है और स्वभाव पर दृष्टि है तो धर्म होता है। **(वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ-२८)**

१८. प्रश्न – धर्म का आचरण क्या है ?

उत्तर – स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़ना और पर के साथ सम्बन्ध तोड़ना अर्थात् जैसा अपना स्वभाव है, वैसा जानकर श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार करना दर्शन व ज्ञान का आचरण है, तत्पश्चात् उसी स्वभाव में उपयोग की एकाग्रता करना चारित्र का आचरण है।इसी आचरण से धर्म होता है, अन्य कोई धर्म का आचरण नहीं है।

(वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ-२९)

१९. प्रश्न – सामायिक कितने प्रकार की है? उनमें से चतुर्थ गुणस्थान में कौन-कौन सी है?

उत्तर – सामायिक चार प्रकार की है । ज्ञान सामायिक, दर्शन सामायिक, देशविरत सामायिक और सर्वविरत सामायिक । अपने पूर्ण ज्ञान स्वभाव का आदर करना और विकार का आदर नहीं करना ज्ञान-दर्शनरूप सामायिक है।

पहले मिथ्यात्व के कारण - ऐसा मानता था कि 'पुण्य भला और पाप बुरा', 'अमुक से लाभ और अमुक से हानि', तब श्रद्धा और ज्ञान में विषमभाव था। अब कोई भी परपदार्थ मुझे लाभ-हानिकारक नहीं, पुण्य-पाप दोनों ही मेरे स्वरूप नहीं-ऐसी स्वभावाश्रित सम्यक् श्रद्धा होने पर ज्ञान-दर्शन में समभाव प्रगट होना श्रद्धा-ज्ञानरूप सामायिक है। यह सामायिक आरम्भ -परिग्रह में रहने वाले सम्यग्दृष्टि के भी होती है और सदा विद्यमान है, मात्र दो घड़ी की ही नहीं।

स्वभाव की अधिक लीनता होने पर देशविरतिरूप सामायिक श्रावक को और विशेष अधिक लीनता होने पर सर्वविरतिरूप सामायिक मुनिदशा में होती है। **(वीतराग-विज्ञान : दिसम्बर १९८३, पृष्ठ-२७)**

२०. प्रश्न – क्या अकेला चारित्र ही ध्यान है अथवा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान भी ध्यान के प्रकार हैं?

उत्तर – शुद्धात्मस्वभाव की श्रद्धा करना भी परमात्मस्वभाव का ही ध्यान है। सम्यग्दर्शन भी स्वरूप की ही एकाग्रता है और सम्यग्ज्ञान भी ध्यान ही है तथा सम्यक्चारित्र भी ध्यान है। यह तीनों स्वाश्रय की एकाग्रतारूप ध्यान के ही प्रकार हैं और ध्यान से ही प्रगट होते हैं।

राग की एकाग्रता छोड़कर स्वरूप की एकाग्रता करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

अकेले ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करते ही रागादि की चिन्ता छूट जाती है, वही एकाग्रता चिन्ता-निरोधरूप ध्यान है और वही मोक्षमार्ग भी है। **(वीतराग-विज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ-२४)**

२१. प्रश्न – ध्यान पर्याय को कथंचित् भिन्न क्यों कहा है?

उत्तर – समयसार गाथा ३२० में जयसेनाचार्य ने ध्यान को कथंचित् भिन्न कहा है। उसका अर्थ 'पर' की अपेक्षा से ध्यान पर्याय वह स्वयं की है, इसीलिए अभिन्न है और शाश्वत ध्रुव द्रव्य की अपेक्षा ये ध्यान पर्याय विनाशीक होने से भिन्न है।

वास्तव में द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्न है।

(आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ-२३)

२२. प्रश्न – पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत - ऐसे धर्मध्यान के चार प्रकार हैं, उनमें कितने सविकल्प हैं और कितने निर्विकल्प हैं?

उत्तर – परमार्थ से तो चारों ही प्रकार के धर्मध्यान निर्विकल्प हैं, क्योंकि जब विकल्प छूटकर उपयोग स्व में स्थिर हो तभी वास्तविक धर्मध्यान कहा जाये।

प्रथम पिण्डस्थ अर्थात् देह में स्थित शुद्ध आत्मा, पदस्थ अर्थात् शब्द के वाच्यरूप शुद्ध आत्मा, रूपस्थ अर्थात् अरहन्त सर्वज्ञदेव तथा रूपातीत अर्थात् देहातीत सिद्धपरमात्मा - इन चार प्रकार के स्वरूप का अनेक विधि चिन्तवन - अन्य स्थूल विकल्पों में से छूटकर, मन के

एकाग्र करने के समय आवे, उसे व्यवहार धर्मध्यान कहते हैं।

पश्चात् वह विकल्प भी छूटकर निजस्वरूप में उपयोग जमे तब वास्तविक धर्मध्यान कहा जाये।

इस भाँति चार प्रकार के सविकल्प चिन्तवन को व्यवहार से धर्मध्यान कहा, परमार्थ धर्मध्यान तो निर्विकल्प है। परमार्थ धर्मध्यान वीतराग है और वही मोक्ष का साधक है। (आत्मधर्म : सितम्बर १९७७, पृष्ठ-२८)

२३. प्रश्न – 'परमात्मप्रकाश' में परमात्मा के ध्यान करने को धर्मध्यान कहा है - वह कैसे ?

उत्तर – परमात्मा का ध्यान करने को कहकर अपने ही आत्मा का ध्यान करने को कहा है, अपने से भिन्न परमात्मा का नहीं। परमात्मा के समान ही अपना स्वभाव परिपूर्ण रागादि रहित है, उसको पहिचानकर उसका ही ध्यान करना - यही परमार्थ से परमात्मा का ध्यान है।

इसके अतिरिक्त अरहंत व सिद्ध का लक्ष्य करना सच्चा धर्मध्यान नहीं है; किन्तु राग है और परमार्थ से राग तो आर्त्तध्यान है; अत: उससे कभी भी धर्मध्यान नहीं हो सकता। (आत्मधर्म : मार्च १९८३, पृष्ठ-२५)

२४. प्रश्न – स्थिरता (चारित्र) को निकट का उपाय क्यों कहा है ?

उत्तर – क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी मोक्ष का उपाय है, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक स्थिरता मोक्ष का साक्षात् उपाय है; इसीकारण स्थिरता को मोक्ष का निकट उपाय कहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् भी स्वरूप में स्थिरता के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

(वीतराग-विज्ञान : अप्रेल १९८४, पृष्ठ-२७)

२५. प्रश्न – स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि जिनवचन की भावना के लिये इन भावनाओं की रचना की है। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर – पहले 'जिनवचन' क्या है - यह निर्णय करना पड़ेगा। जिनवचन में कहे गये, द्रव्य-गुण-पर्याय - इन तीनों का स्वरूप जैसा है वैसा समझकर और प्रतीति करके धर्मी जीव इन भावनाओं को भाता है, उसमें उसकी वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी आनंद का अंश प्रकट होता है।

जिनवचन की भावना के अर्थ ये भावनायें रची हैं अर्थात् जिनवचनानुसार वस्तुस्वरूप का भान जिसे हुआ हो, उसे ही ये भावनायें होती हैं। जिनवचन से विरुद्ध कहनेवाले कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को जो मानता हो; उसको बारह भावनाओं का चिन्तवन सच्चा नहीं होता। सम्यग्दर्शन बिना भावनायें यथार्थ नहीं होती।

(वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ-२८)

२६. प्रश्न – संसार भावना का अर्थ क्या संसार की भावना करना है ?

उत्तर – नहीं; संसार भावना में संसार की भावना या रुचि नहीं है। रुचि और भावना तो स्वभाव की ही है। धर्मीजीव अपने स्वभाव की दृष्टि रखकर संसार का स्वरूप चिन्तवन करके वैराग्य की वृद्धि करता है - इसका नाम संसार भावना है। अन्तर्तत्त्व के भान बिना द्वादश भावना यथार्थ नहीं होती। (वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ-२८)

२७. प्रश्न – मोक्ष का कारण समभाव है। वह समभाव करें तो मोक्ष होगा न ?

उत्तर – समभाव अर्थात् वीतरागता। यह वीतरागता द्रव्य को पकड़े तब हो। द्रव्य के आश्रय बिना वीतरागता नहीं होती। समभाव का कारण वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा है। उसका आश्रय करने और पर का आश्रय छोड़ने से मोक्ष होता है। यह अति संक्षिप्त कथन है।

(आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ-२०)

२८. प्रश्न – त्याग जैनधर्म है कि नहीं ?

उत्तर – सम्यग्दर्शनपूर्वक जितने अंश में वीतरागभाव प्रकट हो, उतने अंश में कषाय का जो त्याग होता है, उसे धर्म कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि अस्तिरूप धर्म है और उसीसमय मिथ्यात्व और कषाय का त्याग, वह नास्तिरूप धर्म है। किसी भी दशा में सम्यक्त्वरहित त्याग से धर्म नहीं होता। यदि मंद कषाय हो तो पुण्य ही होता है।

(आत्मधर्म : अप्रेल १९८२, पृष्ठ-२५)

२९. प्रश्न – आत्मा की क्षमा कैसे होती है ?

उत्तर – अनंतगुणमय, ज्ञानानन्दमय आत्मा का स्वरूप पहचानने से आत्मा की क्षमा होती है। आत्मा में कोई विभाव नहीं - वह तो क्षमा का सागर, शान्ति का सागर है।

यद्यपि अनन्त काल में अनन्तभाव हुए, निकृष्ट भाव भी हुए, तथापि आत्मा तो क्षमा का भण्डार है - उसे पहचानने से ही सच्ची क्षमा होती है। **(आत्मधर्म : अगस्त १९८१, पृष्ठ-२०)**

३०. प्रश्न – अहिंसा को परमधर्म कहा है, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर – परजीवों की दया का भाव तो राग है और राग से स्व की हिंसा होती है तथा राग से लाभ मानने में चैतन्य प्रभु का अनादर है। जिस अहिंसा को परमधर्म कहा है; वह तो आत्मा की पर्याय में रागादि की उत्पत्ति ही न होवे - वह है, वही वीतरागी अहिंसा धर्म है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा - ४४ में कहा कि आत्मा में रागादि की अनुत्पत्ति ही अहिंसा और उनकी उत्पत्ति होना ही हिंसा है। ऐसी बात पात्र जीव के बिना किसे रुचे ? **(आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ-२२-२३)**

●●●

तृतीय खण्ड

रत्नत्रय की आगमोक्त परिभाषाएँ आदि

मोक्षमार्ग के स्वरूप की ही विशेष स्पष्टता के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के लक्षण व स्वरूप के सन्दर्भ में आगम में जो विभिन्न कथन है; उन्हें संकलित कर यहाँ देने का हम प्रयास कर रहे हैं।

यह संकलन का कार्य श्री सौरभजी शास्त्री गढ़ाकोटा ने किया है।

हमें विश्वास है कि इस संकलन के अध्ययन से पाठकों को मोक्षमार्ग की पूर्णता का विषय स्पष्ट समझ में आ सकेगा और यथार्थ ज्ञान का वर्धन होने से विशेष आनन्द भी प्राप्त होगा।

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन की विभिन्न परिभाषाएँ

१. शुद्ध जीवास्तिकाय से उत्पन्न होनेवाला जो परमश्रद्धान, वही दर्शन है। **(नियमसार गाथा-१३, तात्पर्यवृत्ति टीका)**

२. कारणदृष्टि परमपारिणामिकभावरूप जिसका स्वभाव हैं, ऐसे कारणसमयसारस्वरूप आत्मा के यथार्थ स्वरूपश्रद्धानमात्र है। **(नियमसार गाथा-१३, तात्पर्यवृत्ति टीका)**

३. आप्त आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से सम्यक्त्व होता है। इनका **सम्यक् श्रद्धान** व्यवहार सम्यक्त्व है। **(नियमसार, गाथा-५)**

४. तत्त्वरुचि सम्यग्दर्शन है। **(मोक्षपाहुड़, गाथा-३८)**

५. ज्ञेय और ज्ञाता इन दोनों की यथारूप प्रतीति सम्यग्दर्शन का लक्षण है। **(प्रवचनसार, गाथा-२४२, तत्त्वप्रदीपिका टीका, पृष्ठ-४७४)**

६. काल सहित पंचास्तिकाय के भेदरूप नव पदार्थ वास्तव में भाव हैं। उन भावों का श्रद्धान सो सम्यक्त्व हैं।

(पंचास्तिकाय गाथा-१०७)

७. उन भूतार्थरूप से जाने गये जीवादि नौ पदार्थों का शुद्धात्मा से भिन्न करके सम्यक् अवलोकन करना, निश्चय सम्यक्त्व है।

(समयसार तात्पर्यवृत्ति की टीका, गाथा-१६३, पृष्ठ-१७५)

८. शुद्ध जीवास्तिकाय की रुचि निश्चयसम्यक्त्व है।

(पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा-१०७ की तात्पर्यवृत्ति टीका)

९. विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावरूप निज परमात्मा में जो रुचि वह सम्यग्दर्शन है। (समयसार, गाथा-२, तात्पर्यवृत्ति टीका)

१०. रागादि से भिन्न यह जो स्वभाव से उत्पन्न सुखरूप स्वभाव है, वही परमात्मतत्त्व है। वही परमात्म तत्त्व सर्व प्रकार उपादेय है, ऐसी रुचि सम्यक्त्व है। (प्रवचनसार, गाथा-५, तात्पर्यवृत्ति टीका)

११. जो सर्व नय पक्षों से रहित कहा गया है, वह समयसार है। इसी समयसार को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान संज्ञा है।

(समयसार गाथा-१४४)

१२. भूतार्थनय से ज्ञात जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

(समयसार गाथा-१३)

१३. हिंसादि रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग व गुरु इनमें श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है।

(मोक्षपाहुड़, गाथा-९०)

१४. ज्ञान में ही भेदनय से जो वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुए शुद्धात्मा आदि तत्त्व हैं। उनमें, 'यह ही तत्त्व है, ऐसा ही तत्त्व है' इस प्रकार का जो निश्चय है, वह सम्यक्त्व है।

(द्रव्यसंग्रह गाथा ५२ की टीका पृष्ठ-२१८,१०)

१५. अभेद नय से जो सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यग्दर्शन है।

(द्रव्यसंग्रह गाथा ५२ की टीका पृष्ठ-२१८,१०)

१६. 'शुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसी रुचि होनेरूप सम्यग्दर्शन है और उसी शुद्धात्मा को रागादि परभावों से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है।

(द्रव्यसंग्रह गाथा ५२ की टीका पृष्ठ-२१८,१०)

१७. शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आह्लादरूप सुखामृत रस का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुख आदिक हेय है, ऐसी रुचि तथा जो वीतराग चारित्र के बिना नहीं होता, ऐसा जो वीतराग सम्यक्त्व, वह ही निश्चय सम्यक्त्व है। (द्रव्यसंग्रह, गाथा-४१ की टीका, पृष्ठ-२०३)

१८. रागादि विकल्प रहित, चित् चमत्कार भावना से उत्पन्न, मधुर रस के आस्वादरूप सुख का धारक मैं हूँ। इसप्रकार निश्चयरूप सम्यग्दर्शन है। (द्रव्यसंग्रह, गाथा-४० की टीका, पृष्ठ-१८६)

१९. 'शुद्धात्मा ही उपादेय है', ऐसा श्रद्धान सम्यक्त्व है।

(द्रव्यसंग्रह, गाथा-१४,४२,४)

२०. जो द्रव्यों को जैसा उनका स्वरूप हैं, वैसा जाने और उसी तरह इस जगत् में श्रद्धान करे, वही आत्मा का चल, मलिन-अवगाढ़ दोष रहित निश्चल भाव है; वही आत्मभाव सम्यग्दर्शन है।

(परमात्मप्रकाश, अध्याय-२, गाथा-१५)

२१. त्रिगुप्ति अवस्था ही वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण है।

(द्रव्यसंग्रह गाथा ४१ की टीका)

२२. अतत्त्व में तत्त्व की बुद्धि, अदेव में देव की बुद्धि और अधर्म में धर्म की बुद्धि, इत्यादिरूप जो विपरीत अभिनिवेश है; उस विपरीताभिनिवेश से रहित जो ज्ञान है, उसके 'सम्यक्' विशेषण से कहे जानेवाली अवस्थाविशेष सम्यक्त्व कहलाता है।

(द्रव्यसंग्रह गाथा ५२ की टीका, पृष्ठ-२१८, १०)

२३. केवल आत्मा की उपलब्धि सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है। यदि वह शुद्ध है तो उसका लक्षण हो सकती है और यदि अशुद्ध है तो नहीं। (पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध, श्लोक-२१५)

२४. आत्मानुभव सहित ही तत्त्वों की श्रद्धा या प्रतीति सम्यग्दर्शन का लक्षण है, बिना आत्मानुभव के नहीं।

(पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध गाथा-४१५, पृष्ठ-३८३)

२५. जीवादि नौ पदार्थ हैं, उन्हें जिसप्रकार से सर्वज्ञ जिन ने निर्दिष्ट किया, वे उसी प्रकार से स्थित हैं; अन्यथारूप से नहीं – ऐसी जो श्रद्धा, रुचि अथवा प्रतीति है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है।

(तत्त्वानुशासन, श्लोक-२५, पृष्ठ-३३)

२६. पाँच अजीव द्रव्य और नव तत्त्वों से चेतयिता चेतन निराला है, ऐसा श्रद्धान करना और इसके सिवाय अन्य भाँति श्रद्धान नहीं करना, सो सम्यग्दर्शन है। और सम्यग्दर्शन ही आत्मा का स्वरूप है। (समयसार नाटक, छन्द-७, पृष्ठ-३०)

२७. आत्मा को निर्मल-समल के विवक्षा रहित एक रूप श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है। (समयसार नाटक, छन्द-२०, पृष्ठ-४०)

२८. जब आत्मा स्वयं बुद्धि से अथवा श्री गुरु के उपदेशादि से आत्म-अनात्म का भेदविज्ञान अथवा स्वभाव-विभाव की पहिचान करता है, तब सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है।

(समयसार नाटक, पृष्ठ-१२९)

२९. अशुद्ध उपयोग, राग-द्वेष-मोहरूप है और राग-द्वेष-मोह का अभाव सम्यग्दर्शन है। (समयसार नाटक, पृष्ठ-२११)

३०. अपने स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और अपने स्वरूप में ही स्थिर हो जाना निश्चय सम्यग्दर्शन है। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। (ध्यानोपदेशकोष, श्लोक-५, पृष्ठ-४)

३१. अपने-अपने स्वभाव में स्थित तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। जीव-अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा व मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-१, सूत्र-२,३,४)

३२. प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति लक्षणवाला सराग सम्यग्दर्शन है।

(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र-२, १२,७)

३३. (दर्शनमोहनीय की) सातों प्रकृतियों का आत्यन्तिक क्षय हो जानेपर जो आत्म विशुद्धिमात्र प्रकट होती है, वह वीतराग सम्यक्त्व है। (तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय-१, सूत्र-२,३१,२२)

३४. तहाँ प्रशस्तराग सहित जीवों का सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व है।

३५. प्रशस्त व अप्रशस्त दोनों प्रकार के राग से रहित क्षीणमोह वीतरागियों का सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व है।

(भगवती आराधना, वि-५१,१७५,१८,२१)

३६. क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग है।

३७. औपशमिक व क्षायोपशमिक सराग है।

३८. प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा इन प्रगट लक्षणोंवाला सराग सम्यक्त्व जानना चाहिए।

३९. उपेक्षा अर्थात् वीतरागता लक्षणवाला वीतराग सम्यक्त्व है।

(अमितगति श्रावकाचार अधिकार-२, श्लोक-६५-६६)

४०. सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-४, पृष्ठ-३)

४१. सत्यार्थ देव, शास्त्र और गुरु इन तीनों का आठ अंग सहित, तीन मूढ़ता और आठ मदरहित श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन कहा जाता है। (रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक-४)

४२. सम्यक्त्व के आठ अंगों का समूह ही सम्यग्दर्शन है।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ-३६)

४३. सम्यग्दर्शन में तथा अर्हन्तभक्ति में नाम भेद है, अर्थ भेद नहीं है।
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ-४७९)

*४४. दर्शनमोह के उपशान्त होने से ग्रन्थश्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान की आज्ञा से ही जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है, वह **आज्ञा सम्यक्त्व** है।

*४५. दर्शनमोह का उपशम होने से ग्रन्थश्रवण के बिना जो कल्याणकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान होता है, उसे **मार्ग सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

*४६. तिरेसठ शलाका पुरुषों के पुराण (वृत्तान्त) के उपदेश से जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है उसे **उपदेश सम्यग्दर्शन** कहा है।

*४७. मुनि के चारित्रानुष्ठान को सूचित करनेवाले आचारसूत्र को सुनकर जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उसे **सूत्र सम्यग्दर्शन** कहा गया है।

*४८. जिन जीवादि पदार्थों के समूह का अथवा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है, उनका किन्हीं बीजपदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाले भव्यजीव के जो दर्शनमोहनीय के असाधारण उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है, उसे **बीज सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

*४९. जो भव्यजीव पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप से ही जान करके तत्त्वश्रद्धान को प्राप्त हुआ है, उसके उस सम्यग्दर्शन को **संक्षेप सम्यग्दर्शन** कहा जाता है।

*५०. जो भव्यजीव १२ अंगों को सुनकर तत्त्वश्रद्धानी हो जाता है, उसे **विस्तार सम्यग्दर्शन** से युक्त जानो।

*५१. अंग बाह्य आगमों के पढ़ने के बिना भी उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो अर्थश्रद्धान होता है, वह **अर्थ सम्यग्दर्शन** कहलाता है।

*५२. अंगों के साथ अंगबाह्य श्रुत का अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, उसे **अवगाढ़ सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

*५३. केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों में देखे गये पदार्थों के विषय में रुचि होती है, वह यहाँ **परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन** इस नाम से प्रसिद्ध है। (*आत्मानुशासन श्लोक-१२,१३,१४)

५४. आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नत्व की श्रद्धा करना, सो निश्चय सम्यग्दर्शन है। (छहढाला-तीसरी ढाल, छन्द-२)

५५. पर-पदार्थों से त्रिकाल भिन्न ऐसे निजात्म का अटल विश्वास करना, उसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(छहढाला-तीसरी ढाल, छन्द-२)

- दूरभिनिवेश रहित पदार्थों का श्रद्धान अथवा स्वात्म प्रत्यक्ष-पूर्वक स्व-पर भेद का या कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक सम्यग्दर्शन कहा जाता है। किन्हीं को यह स्वभाव से ही होता है और किन्हीं को उपदेशपूर्वक।
- आज्ञा आदि की अपेक्षा यह **दश प्रकार का** है।
- **कर्मों** के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा **तीन प्रकार का** होता है। इनमें से पहले दो अत्यन्त निर्मल व निश्चल होते हैं, पर तीसरे में समल होने के कारण कदाचित् कुछ अतिचार लगने सम्भव हैं।
- राग के सद्भाव व अभाव की अपेक्षा भी इसके **सराग व वीतराग** दो भेद हैं। वहाँ सराग तो प्रशम, संवेग आदि गुणों के द्वारा अनुमानगम्य है और वीतराग केवल स्वानुभवगम्य है।
- सम्यक्त्व के सभी भेद निःशंकित आदि आठ गुणों से भूषित होते हैं।
- **सम्यक्त्व व ज्ञान में महान अन्तर होता है, जो सूक्ष्म विचार के बिना पकड़ में नहीं आता।**
- जितनी भी विकल्पात्मक उपलब्धियाँ, श्रद्धा, अनुभव आदि हैं, वे सब ज्ञानरूप हैं।

- सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प होने के कारण अन्तर में अभिप्राय या लब्धरूप अवस्थित मात्र रहा करता है। मोक्षमार्ग में इसका सर्वोच्च स्थान है; क्योंकि इसके बिना का आगम-ज्ञान, चारित्र, व्रत, तप आदि सब वृथा है।
- **सम्यग्दर्शन के लक्षणों में भी स्वात्म संवेदन सर्वप्रधान है, क्योंकि बिना इसके तत्त्वों की श्रद्धा आदि अकिंचित्कर है।**
- यह सम्यग्दर्शन स्वतः या किसी के उपदेश से या जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन आदि के निमित्त से काल पाकर भव्य जीवों को उत्पन्न होता है। इसको प्राप्त करने की योग्यता केवल संज्ञी पर्याप्त जीवों में चारों ही गतियों में होती है।
- अनादि मिथ्यादृष्टि को सर्वप्रथम प्रथमोशम सम्यक्त्व होता है। वहाँ से नियम से गिरकर वह पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है। पीछे कदाचित् वेदक-सम्यक्त्व को और तत्पूर्वक यथायोग्य गुणस्थानों में द्वितीयोपशम व क्षायिक हो जाता है।
- क्षायिक सम्यग्दर्शन अत्यन्त अचल व अप्रतिप्राती है, तथा केवली के पादमूल में मनुष्यों को ही होना प्रारम्भ होता है। पीछे यदि मरण हो जाये तो चारों गतियों में पूर्ण होता है।

(★ जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-४, पृष्ठ-३४५)

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन ही प्रधान है

१. बहुत कहने से क्या, जो प्रधान पुरुष अतीतकाल में सिद्ध हुए हैं या आगे सिद्ध होंगे, वह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो।

(मोक्षपाहुड़, गाथा-८८)

२. दर्शन शुद्ध ही वास्तव में शुद्ध है, क्योंकि दर्शनशुद्ध ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। दर्शन विहीन पुरुष इष्ट लाभ अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करते। **(मोक्षपाहुड़, गाथा-३९)**

३. सम्यग्दर्शन को यह जीव जब प्राप्त हो जाता है, तब परम सुखी हो जाता है और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता, तब तक दुःखी बना रहता है। (रयणसार, गाथा-१५८)

४. सम्यग्दर्शन समस्त रत्नों में सारभूत रत्न है और मोक्षरूपी वृक्ष का मूल है। (रयणसार गाथा-४)

५. जिसप्रकार भाग्यशाली मनुष्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न और रसायन को प्राप्त कर मनोवांछित उत्तम सुख को प्राप्त होता है। उसीप्रकार सम्यग्दर्शन से भव्य जीवों को सर्व प्रकार के सर्वोत्कृष्ट सुख व समस्त प्रकार के भोगोपभोग स्वयमेव प्राप्त होते हैं। (रयणसार, गाथा-५४)

६. सम्यक्त्व के बिना नियम से सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र नहीं होते हैं। रत्नत्रय में एक यह सम्यक्त्व गुण ही प्रशंसनीय है। (रयणसार, गाथा-४७)

७. जैसे बाण रहित वेधक मनुष्य के अभ्यास से रहित होता हुआ निशाने को प्राप्त नहीं करता है, वैसे ही अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मोक्षमार्ग के लक्ष्यभूत परमात्म तत्त्व को प्राप्त नहीं करता है। (बोधपाहुड़, गाथा-२१)

८. जिनप्रणीत सम्यग्दर्शन को अन्तरंग भावों से धारण करो; क्योंकि यह सर्व गुणों में और रत्नत्रय में सार है तथा मोक्षमन्दिर की प्रथम सीढ़ी है। (दर्शनपाहुड़, गाथा-२१)

९. दर्शनभ्रष्ट ही वास्तव में भ्रष्ट है; क्योंकि दर्शनभ्रष्ट को निर्वाण नहीं होता। चारित्र भष्ट को मोक्ष हो जाता है, पर दर्शनभष्ट को नहीं होता। (दर्शनपाहुड़ गाथा-३)

१०. उन दोनों (सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान) से सर्व पदार्थों या तत्त्वों की उपलब्धि होती है। पदार्थों की उपलब्धि होने पर श्रेय व अश्रेय का ज्ञान होता है। (दर्शनपाहुड़, गाथा-१५)

११. श्रेय व अश्रेय को जानकर वह पुरुष, मिथ्यात्व को उड़ाकर तथा सम्यक् स्वभावयुक्त होकर अभ्युदय व तीर्थंकर आदि पदों को प्राप्त होता हुआ पीछे निर्वाण प्राप्त करता है।

(दर्शनपाहुड़, गाथा-१६)

१२. जिस प्रकार ताराओं में चन्द्र और पशुओं में सिंह प्रधान है, उसी प्रकार मुनि व श्रावक दोनों प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व प्रधान है।

(भावपाहुड़, गाथा-१४४)

१३. सम्यक्त्व का आचरण करनेवाले धीर पुरुष संख्यात व असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा करते हैं तथा संसारी जीवों की अमर्यादारूप जो सर्व दुःख, उनका नाश करते हैं।

(चारित्रपाहुड़, गाथा-२०)

१४. सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महा-ऋद्धि है। अधिक क्या, सम्यक्त्व सब सिद्धियों को करनेवाला है। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-३२५)

१५. सम्यक्त्व गुण से सहित जीव, देवों के इन्द्रों से तथा चक्रवर्ती आदि से वन्दनीय होता है, और व्रत रहित होता हुआ भी नाना प्रकार के उत्तम स्वर्ग सुख को पाता है।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-३२६)

१६. सम्यक्त्व से तो ज्ञान सम्यक् होता है।

१७. आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्त्व की युगपत्ता होनेपर भी आत्मज्ञान को ही मोक्षमार्ग का साधकतम सम्मत करना।

१८. आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्त्व का युगपत्पना भी अकिंचित्कर है।

(प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, गाथा-२३९, पृष्ठ-४६७)

१९. नगर में जिसप्रकार द्वार प्रधान है, मुख में जिस प्रकार चक्षु प्रधान है तथा वृक्ष में जिस प्रकार मूल प्रधान है, उसी प्रकार ज्ञान,

चारित्र, वीर्य व तप इन चार आराधनाओं में एक सम्यक्त्व ही प्रधान है। (भगवती आराधना मूल पृष्ठ-८, गाथा-७४२, पेज-३१४)

२०. दर्शनभष्ट ही भ्रष्ट है, चारित्रभ्रष्ट वास्तव में भ्रष्ट नहीं होता, क्योंकि जिसका सम्यक्त्व नहीं छूटा है – ऐसा चारित्रभ्रष्ट संसार में पतन नहीं करता। (भगवती आराधना, गाथा-७४५, पृष्ठ-३१४)

२१. जिस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान तो मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र हुआ करता है, वह सुख का स्थानभूत, मोक्षरूपी वृक्ष का अद्वितीय बीजस्वरूप तथा समस्त दोषों से रहित सम्यग्दर्शन जयवन्त होता है। उसके बिना प्राप्त हुआ भी मनुष्य जन्म अप्राप्त हुए के समान है।

(पद्मनंदि पंचविंशतिका, अध्याय-१, श्लोक-७७)

२२. सत्पुरुषों ने सम्यग्दर्शन को चारित्र व ज्ञान का बीज, यम व प्रशम का जीवन तथा तप व स्वाध्याय का आश्रय माना है।

(ज्ञानार्णव अधिकार, ६,५४, पृष्ठ-९५)

२३. हे भव्यों! तुम सम्यग्दर्शनरूपी अमृत का पान करो; क्योंकि, यह सम्यग्दर्शन अतुल सुखनिधान है, समस्त कल्याणों का बीज है, संसारसागर तरने को जहाज है। भव्यजीव ही इसका पात्र है, पापवृक्ष को काटने के लिए कुठार है, पुण्यतीर्थों में प्रधान है तथा विपक्षी जो मिथ्यादर्शन, उसको जीतने वाला है।

(ज्ञानार्णव अधिकार-६, श्लोक-५९, पृष्ठ-९६)

२४. यह सम्यग्दर्शन महारत्न अर्थात् समस्त लोक का आभूषण है और मोक्ष होने पर्यन्त आत्मा को कल्याण देने में चतुर है।

(ज्ञानार्णव अधिकार-६, श्लोक-५३, पृष्ठ-९५)

२५. मिथ्यात्व से ग्रस्त चित्तवाला मनुष्य भी पशु के समान है। और सम्यक्त्व से व्यक्त चित्तवाला पशु भी मनुष्य के समान है।

(सागारधर्मामृत अधिकार-१, श्लोक-४)

२६. अपार संसार समुद्र तारनेवाला और जिसमें विपदाओं को स्थान नहीं, ऐसा यह सम्यग्दर्शन, जिसने अपने वश किया है; उस पुरुष ने कोई अलभ्य सम्पदा ही वश करी है।

(अमितगतिश्रावकाचार अधिकार-२, श्लोक-८३)

२७. अन्य गुणों से हीन भी सम्यग्दृष्टि सर्वमान्य है। क्या बिना शान पर चढ़ा रत्न शोभा को प्राप्त नहीं होता है। (आराधना सार-२,६८)

२८. इन तीनों (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) में पहले समस्त प्रकार से सम्यग्दर्शन भले प्रकार अंगीकार करना चाहिए, क्योंकि इसके अस्तित्व होते हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

(पुरुषार्थसिद्धियुपाय, श्लोक-२१)

२९. सम्यग्दर्शन के होते ही जो भूतपूर्व ज्ञान व चारित्र था, वह सम्यक् विशेषण सहित हो जाता है। अतः सम्यग्दर्शन अभूतपूर्व के समान ही सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को उत्पन्न करता है, ऐसा कहा जाता है। (पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध, ७६८)

३०. शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव कान्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यशोवृद्धि, विजय, विभववान, उच्चकुली, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के साधक तथा मनुष्यों में शिरोमणि होते हैं।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-३६

३१. तीन काल और तीन जगत में जीवों का सम्यक्त्व के समान कुछ भी कल्याणकारी नहीं है, मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी नहीं है। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-३४)

३२. गणधरादि देव, सम्यग्दर्शन सहित चाण्डाल को भी भस्म से ढकी हुई चिनगारी के समान देव कहते हैं।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-२८)

३३. सम्यग्दर्शन का नाश करनेवाले दोषों का त्याग करने में ही सम्यग्दर्शन की उज्ज्वलता है। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ-२२८)

३४. सर्वप्रकार के प्रयत्न से सम्यग्दर्शन उत्तम रीति से अंगीकार करना चाहिये; क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त होते हैं। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ-७९)

३५. सम्यग्दर्शन से तो मिथ्यात्व नाम के आस्रव का द्वार रुक जाता है। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ-४०२)

३६. सत्संगति मिलने पर भी सम्यग्दर्शन प्राप्त होना दुर्लभ है। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ-४०६)

३७. जो अपने सम्यग्दर्शनादि स्वभाव को आप ही धारण करता है; वही जीव संसार समुद्र से पार होता है। (समयसार नाटक, छन्द-८, पृष्ठ-८)

३८. सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर व्यवहार की तल्लीनता नहीं रहती। सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर चंचल चित्त को विश्राम मिलता है। (समयसार नाटक, पृष्ठ-२११)

३९. यदि यह जीव वैमानिक देव हुआ तो भी सम्यग्दर्शन बिना दुख प्राप्त करता है। (छहढाला-प्रथम ढाल, छन्द-१७)

४०. जीव को निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यक्भावश्रुतज्ञान होता है। (छहढाला-तीसरी ढाल, छन्द-१)

४१. जो बुद्धिमान पुरुष पच्चीस दोष रहित तथा आठ निःशंकादि गुणों से सहित सम्यग्दर्शन धारण करते हैं, उन्हें अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवश किंचित् भी संयम नहीं है; तथापि देवों के स्वामी इन्द्रादि उनकी पूजा (आदर) करते हैं। (छहढाला-तीसरी ढाल, छन्द-१५)

४२. यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी है, इस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते। (छहढाला-तीसरी ढाल, छन्द-१७)

सम्यग्दर्शन, भेद-प्रभेद

- सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है – सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन।
- आत्मा की विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है।

(सर्वार्थसिद्धि, अध्याय-१, सूत्र-२, पेज-७)

- त्रिगुप्तिरूप अवस्था ही वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण है।

(द्रव्यसंग्रह गाथा, ४१ की टीका)

- प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति सराग सम्यक्त्व का लक्षण है। यह ही व्यवहार सम्यक्त्व है।
- वीतराग सम्यक्त्व निजशुद्धात्मानुभूति लक्षणवाला है और वीतराग चारित्र के अविनाभावी हैं। वह ही निश्चय सम्यक्त्व हैं।

(परमात्मप्रकाश अधिकार-२, गाथा-१७)

- सम्यग्दर्शन सामान्य से एक है। निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय-१, सूत्र-३)
- औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है।
- आज्ञा सम्यक्त्व आदि की अपेक्षा सम्यक्त्व दस प्रकार का है।
- शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है।
- श्रद्धान करनेवाले की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का हैं।

(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र-७, पृष्ठ-४)

- श्रद्धान करने योग्य पदार्थों व अध्यवसायों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है। (तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय-१, सूत्र-७,१४,४०,३०)

छद्मस्थों का सम्यक्त्व भी सिद्धों के समान है

- उपशम, क्षायिक व क्षायोपशमिक इन तीनों सम्यक्त्वों में यथार्थ श्रद्धान के प्रति कोई भेद नहीं है।
- वीतराग सर्वज्ञप्रणीत जीवादि पदार्थों के विषय में सम्यक् श्रद्धान व

ज्ञान में दोनों – गृहस्थ व तपोधन साधुओं के समान ही होते हैं, परन्तु इनके चारित्र में भेद हैं।

(पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति गाथा १६०, पृष्ठ-२३३)

- जैसे छद्मस्थ के श्रुतज्ञान के अनुसार प्रतीति पाइए है.... जैसा सप्त तत्त्वनि का श्रद्धान छद्मस्थ के भया था, तैसा ही केवली सिद्ध भगवान् के पाइए है।
- ज्ञानादिक की हीनता अधिकता होते भी तिर्यंचादिक या केवली सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व गुण समान हैं।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-९, पृष्ठ-३२९)

सम्यग्दर्शन में सम्यक् शब्द का महत्व

- 'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढिक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरण सिद्ध है। जब यह व्याकरण से सिद्ध किया जाता है तब 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'अञ्च्' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'सम्यक्' शब्द बनता है।
- संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति समञ्चति इति सम्यक् इसप्रकार होती है। प्राकृत में इसका अर्थ प्रशंसा है।
- सूत्र में आये हुए सम्यक् इस शब्द को दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें से प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र।
- पदार्थों के यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान का संग्रह करने के लिए दर्शन के पहले सम्यक् विशेषण दिया है।

(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र-१, पृष्ठ-५)

सम्यग्दर्शन के पश्चात् भवधारण की सीमा

- जो जीव मुहुर्त काल पर्यन्त भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके अनन्तर छोड़ देते हैं, वे भी इस संसार में अनन्तानन्त काल पर्यन्त नहीं

रहते। अर्थात् उनको अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल मात्र ही संसार शेष रहता है इससे अधिक नहीं।

(भगवती आराधना, गाथा-५३)

- जो मनुष्य जिस भव में दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापन करता है, वह दर्शनमोह के क्षीण होने पर तीन भव में नियम से मुक्त हो जाता है। (पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार-१, गाथा-२०३)
- जो सम्यग्दर्शन से पतित नहीं होते उनको उत्कृष्टतः सात या आठ भवों का ग्रहण होता है और जघन्य से दो-तीन भवों का। इतने भवों के पश्चात् उनके संसार का उच्छेद हो जाता है। जो सम्यक्त्व से च्युत हो गये हैं, उनके लिए कोई नियम नहीं है।

(राजवार्तिक अध्याय-४, सूत्र-२५, पृष्ठ-२४३)

- दर्शनमोह का क्षय हो जाने पर उस ही भव में या तीसरे भव में अथवा मनुष्य-तिर्यंच की पूर्व में आयु बाँध ली हो तो भोगभूमि की अपेक्षा चौथे भव में सिद्धि प्राप्त करते हैं। चौथे भव को उल्लंघन नहीं करते। ०००औपशमिक व क्षायोशमिक सम्यक्त्व की भाँति यह नाश को प्राप्त नहीं होता। (लब्धिसार गाथा-१६५)
- कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्व को पुनः पुनः प्राप्त करके सात-आठ भवों के पश्चात् नियम से कर्मक्षय करते हैं।

(वसुनंदिश्रावकाचार, गाथा-२६९)

प्रश्नोत्तर –

१. प्रश्न – दृश धातु की 'सामान्य से देखना' ऐसी व्युत्पत्ति जगत् प्रसिद्ध है। वहाँ "सम्यक् देखता है जिसके द्वारा" ऐसे करण प्रत्यय करने पर जो इष्ट लक्षण प्राप्त होता है, वह आप स्याद्वादियों के यहाँ प्राप्त नहीं होता है। भले प्रकार देखना ऐसा भाव साधनरूप अर्थ भी नहीं मिलता है?

उत्तर – ऐसा अर्थ हम इष्ट नहीं कर सकते; क्योंकि इसमें अतिव्याप्ति दोष होगा। मिथ्यादृष्टि अभव्य के प्रशस्त देखना होने के कारण सम्यग्दर्शन हो जाने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा।

(श्लोकवार्तिक अध्याय-२, सूत्र-२,२,३,३)

तथा यदि आपा पर का यथार्थ श्रद्धान नहीं है। अर जिनमत विषै कहै जे देव, गुरु, धर्म तिनि ही कूं मानें हैं, अन्य मत विषैं कहे देवादि या तत्त्वादि तिनि को नहीं माने हैं तो ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त्व करि सम्यक्त्वी नाम पावैं नहीं। (रहस्यपूर्ण चिट्ठी)

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान में अन्तर

२. प्रश्न – ज्ञान व दर्शन की युगपत् प्रवृत्ति होने के कारण वे दोनों एक हैं?

उत्तर – नहीं; क्योंकि, जिस प्रकार युगपत् होते हुए भी अग्नि का ताप व प्रकाश (अथवा दीपक व उसका प्रकाश) अपने-अपने लक्षणों से भेद को प्राप्त हैं, उसीप्रकार युगपत् होते हुए भी ये दोनों अपने-अपने लक्षणों से भिन्न हैं।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करना है और सम्यग्दर्शन का लक्षण उन पर श्रद्धान करना है।

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक-३२,३४)

३. प्रश्न – "तत्त्वार्थ का श्रद्धान करनेरूप सम्यग्दर्शन और पदार्थ का विचार करने स्वरूप सम्यग्ज्ञान है" इन दोनों में भेद नहीं जाना जाता, क्योंकि जो पदार्थ का निश्चय सम्यग्दर्शन में है, वहीं सम्यग्ज्ञान में है। इसलिए इन दोनों में क्या भेद है?

उत्तर – पदार्थ के ग्रहण करने में जाननेरूप जो क्षयोपशम विशेष है, वह 'ज्ञान' कहलाता है। (द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा-४४, पृष्ठ-२१८)

४. प्रश्न – जो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान में भेद नहीं है, तो उन दोनों गुणों के घातक ज्ञानावरणीय व मिथ्यात्व ये दो कर्म कैसे कहे गये?

उत्तर – भेदनय से आवरण का भेद है और अभेद की विवक्षा में कर्मत्व के प्रति जो दो आवरण हैं, उन दोनों को एक ही जानना चाहिए।

(द्रव्यसंग्रह, गाथा-४४, पृष्ठ-२१९)

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि एक साथ प्रगट होते हैं, तथापि वे दोनों भिन्न-भिन्न गुणों की पर्यायें हैं।

सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है और सम्यग्ज्ञान ज्ञानगुण की शुद्ध पर्याय है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थश्रद्धा है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण संशयादि दोष रहित स्व-पर का यथार्थतया निर्णय है।

सम्यग्दर्शन निमित्त कारण है और सम्यग्ज्ञान नैमित्तिक कार्य है।

(छहढाला-चौथी ढाल, छन्द-२)

दर्शन शब्द का अर्थ श्रद्धा इष्ट है

५. प्रश्न – दर्शन शब्द 'दृशि' धातु से बना है जिसका अर्थ आलोक है। अतः इससे श्रद्धानरूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।

उत्तर – धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, अतः 'दृशि' धातु का श्रद्धानरूप अर्थ करने में कोई दोष नहीं है।

६. प्रश्न – यहाँ (अर्थात् 'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग् है' – इस प्रकरण में) दृशि धातु का प्रसिद्ध अर्थ क्यों छोड़ दिया?

उत्तर – मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से – तत्त्वार्थों का श्रद्धानरूप जो आत्मा का परिणाम होता है वह तो मोक्ष का साधन बन जाता है; क्योंकि वह भव्यों के ही पाया जाता है, किन्तु आलोक, चक्षु आदि के

निमित्त से होता है, जो साधारण रूप से सब संसारी जीवों के पाय जाता है; अतः उसे मोक्षमार्ग मानना युक्त नहीं।

(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र-२,११,७)

सम्यक्त्व के विभिन्न लक्षणों का समन्वय

७. फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि यहाँ सातों तत्त्वों के श्रद्धान का नियम कहते हो, सो नहीं बनता। क्योंकि कहीं पर से भिन्न अपने श्रद्धान ही को सम्यक्त्व कहते हैं। समयसार[१] में **'एकत्वे नियतस्य'** इत्यादि कलश है – उसमें ऐसा कहा है कि इस आत्मा का परद्रव्य से भिन्न अवलोकन वही नियम से सम्यग्दर्शन है; इसलिये नवतत्त्व की संतति को छोड़कर हमारे यह एक आत्मा ही होओ।

तथा कहीं एक आत्मा के निश्चय ही को सम्यक्त्व कहते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[२] में **'दर्शनमात्मविनिश्चितिः'** ऐसा पद है, सो उसका यही अर्थ है। इसलिये जीव-अजीव ही का व केवल जीव ही का श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है, सातों के श्रद्धान का नियम होता तो ऐसा किसलिये लिखते?

समाधान – पर से भिन्न अपना श्रद्धान होता है, सो आस्रवादिक के श्रद्धान से रहित होता है या सहित होता है? यदि रहित होता है, तो मोक्ष के श्रद्धान बिना किस प्रयोजन के अर्थ ऐसा उपाय करता है?

संवर-निर्जरा के श्रद्धान बिना रागादिक रहित होकर स्वरूप में उपयोग लगाने का किसलिये उद्यम रखता है?

---

१. एकत्वे नियतस्यशुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः, पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम्, तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६॥ (समयसार कलश)

२. दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥

आस्रव-बन्ध के श्रद्धान बिना पूर्व अवस्था को किसलिये छोड़ता है? **इसलिये आस्रवादिक के श्रद्धानरहित आपापर का श्रद्धान करना सम्भवित नहीं है।**

तथा यदि आस्रवादिक के श्रद्धान सहित होता है, तो स्वयमेव ही सातों तत्त्वों के श्रद्धान का नियम हुआ। तथा केवल आत्मा का निश्चय है, सो पर का पररूप श्रद्धान हुए बिना आत्मा का श्रद्धान नहीं होता, इसलिये अजीव का श्रद्धान होनेपर ही जीव का श्रद्धान होता है।

तथा उसके पूर्ववत् आस्रवादिक का भी श्रद्धान होता ही होता है, इसलिये यहाँ भी सातों तत्त्वों के ही श्रद्धान का नियम जानना।

तथा आस्रवादिक के श्रद्धान बिना आपापर का श्रद्धान व केवल आत्मा का श्रद्धान सच्चा नहीं होता; क्योंकि आत्मा द्रव्य है, सो तो शुद्ध-अशुद्ध पर्याय सहित है।

जैसे – तन्तु अवलोकन बिना पट का अवलोकन नहीं होता, उसी प्रकार शुद्ध-अशुद्ध पर्याय पहिचाने बिना आत्मद्रव्य का श्रद्धान नहीं होता; उस शुद्ध-अशुद्ध अवस्था की पहिचान आस्रवादिक की पहिचान से होती है।

तथा आस्रवादिक के श्रद्धान बिना आपापर का श्रद्धान व केवल आत्मा का श्रद्धान कार्यकारी भी नहीं है; क्योंकि श्रद्धान करो या न करो, आप है सो आप है ही, पर है सो पर है।

तथा आस्रवादिक का श्रद्धान हो तो आस्रव-बन्ध का अभाव करके संवर-निर्जरारूप उपाय से मोक्षपद को प्राप्त करे।

तथा जो आपा-पर का भी श्रद्धान कराते हैं, सो उसी प्रयोजन के अर्थ कराते हैं; इसलिये आस्रवादिक के श्रद्धान सहित आपा-पर का जानना व आपका जानना कार्यकारी है।

८. यहाँ प्रश्न है कि ऐसा है तो शास्त्रों में आपा-पर के श्रद्धान को व केवल आत्मा के श्रद्धान ही को सम्यक्त्व कहा व कार्यकारी कहा; तथा नव तत्त्व की संतति छोड़कर हमारे एक आत्मा ही होओ – ऐसा कहा, सो किस प्रकार कहा?

समाधान – जिसके सच्चा आपा-पर का श्रद्धान व आत्मा का श्रद्धान हो, उसके सातों तत्त्वों का श्रद्धान होता ही होता है।

तथा जिसके सच्चा सात तत्त्वों का श्रद्धान हो उसके आपा-पर का व आत्मा का श्रद्धान होता ही होता है – ऐसा परस्पर अविनाभावीपना जानकर आपा-पर के श्रद्धान को या आत्मश्रद्धान ही को सम्यक्त्व कहा है।

तथा इस छल से कोई सामान्यरूप से आपा-पर को जानकर व आत्मा को जानकर कृतकृत्यपना माने, तो उसके भ्रम है; क्योंकि ऐसा कहा है –

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्।[१]

इसका अर्थ यह है – विशेष रहित सामान्य है, सो गधे के सींग समान है।

इसलिये प्रयोजनभूत आस्रवादिक विशेषों सहित आपापर का व आत्मा का श्रद्धान करना योग्य है। अथवा सातों तत्त्वार्थों के श्रद्धान से रागादिक मिटाने के अर्थ परद्रव्यों को भिन्न भाता है व अपने आत्मा ही को भाता है, उसके प्रयोजन की सिद्धि होती है; इसलिये मुख्यता से भेदविज्ञान को व आत्मज्ञान को कार्यकारी कहा है।

तथा तत्त्वार्थ-श्रद्धान किये बिना सर्व जानना कार्यकारी नहीं है, क्योंकि प्रयोजन तो रागादिक मिटाने का है; सो आस्रवादिक के श्रद्धान बिना यह प्रयोजन भासित नहीं होता; तब केवल जानने ही से मान को

१. आलापपद्धति, श्लोक-९

बढ़ाता है; रागादिक नहीं छोड़ता, तब उसका कार्य कैसे सिद्ध होगा?

तथा नव तत्त्व संतति का छोड़ना कहा है; सो पूर्व में नव तत्त्व के विचार से सम्यग्दर्शन हुआ, पश्चात् निर्विकल्प दशा होने के अर्थ नव तत्त्वों के भी विकल्प छोड़ने की चाह की।

तथा जिसके पहले ही नव तत्त्वों का विचार नहीं है, उसको वह विकल्प छोड़ने का क्या प्रयोजन है? अन्य अनेक विकल्प आपके पाये जाते हैं, उन्हीं का त्याग करो।

इस प्रकार आपा-पर के श्रद्धान में व आत्मश्रद्धान में सात तत्त्वों के श्रद्धान की सापेक्षता पायी जाती है; इसलिये तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्व का लक्षण है।

९. फिर **प्रश्न** है कि कहीं शास्त्रों में अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु, हिंसा रहित धर्म के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है, सो किसप्रकार है?

समाधान – अरहन्त देवादिक के श्रद्धान से कुदेवादिक का श्रद्धान दूर होने के कारण गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, उस अपेक्षा इसके सम्यक्त्व कहा है। सर्वथा सम्यक्त्व का लक्षण यह नहीं है; क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहार धर्म के धारक मिथ्यादृष्टियों के भी ऐसा श्रद्धान होता है।

अथवा जैसे अणुव्रत, महाव्रत होने पर तो देशचारित्र, सकलचारित्र हो या न हो; परन्तु अणुव्रत, महाव्रत हुए बिना देशचारित्र, सकलचारित्र कदाचित् नहीं होता; इसलिये इन व्रतों को अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार करके इनको चारित्र कहा है।

उसी प्रकार अरहन्त देवादिक का श्रद्धान होने पर तो सम्यक्त्व हो या न हो; परन्तु अरहन्तादिक का श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व कदाचित् नहीं होता; इसलिये अरहन्तादिक के श्रद्धान को अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार करके इस श्रद्धान

को सम्यक्त्व कहा है। इसी से इसका नाम व्यवहार सम्यक्त्व है।

अथवा जिसके तत्त्वार्थश्रद्धान हो, उसके सच्चे अरहन्तादिक के स्वरूप का श्रद्धान होता ही होता है। तत्त्वार्थश्रद्धान बिना पक्ष से अरहंतादि का श्रद्धान करे; परन्तु यथावत् स्वरूप की पहिचान सहित श्रद्धान नहीं होता। तथा जिसके सच्चे अरहन्तादिक का स्वरूप पहिचानने से जीव-अजीव-आस्रवादिक की पहिचान होती है।

इसप्रकार इनको परस्पर अविनाभावी जानकर कहीं अरहन्तादिक के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है।

१०. यहाँ प्रश्न है कि नारकादि जीवों के देव-कुदेवादि का व्यवहार नहीं है और उनके सम्यक्त्व पाया जाता है; इसलिये सम्यक्त्व होने पर अरहन्तादिक का श्रद्धान होता ही होता है, ऐसा नियम सम्भव नहीं है?

समाधान – सप्त तत्त्वों के श्रद्धान में अरहन्तादिक का श्रद्धान गर्भित है; क्योंकि तत्त्वश्रद्धान में मोक्ष तत्त्व को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, वह मोक्ष तत्त्व तो अरहन्त-सिद्ध का लक्षण है। जो लक्षण को उत्कृष्ट माने वह उसके लक्ष्य को उत्कृष्ट माने ही माने; इसलिये उनको भी सर्वोत्कृष्ट माना, और को नहीं माना; वहीं देव का श्रद्धान हुआ।

तथा मोक्ष के कारण संवर-निर्जरा हैं, इसलिये इनको भी उत्कृष्ट मानता है; और संवर-निर्जरा के धारक मुख्यतः मुनि हैं, इसलिये मुनि को उत्तम माना, और को नहीं माना; वही गुरु का श्रद्धान हुआ।

तथा रागादिक रहित भाव का नाम अहिंसा है, उसी को उपादेय मानते हैं, और को नहीं मानते; वही धर्म का श्रद्धान हुआ।

इस प्रकार तत्त्व श्रद्धान में गर्भित अरहन्तदेवादिक का श्रद्धान होता है। अथवा जिस निमित्त से इसके तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उस निमित्त से अरहन्तदेवादिक का भी श्रद्धान होता है। इसलिये सम्यक्त्व में देवादिक के श्रद्धान का नियम है।

११. फिर प्रश्न है कि कितने ही जीव अरहन्तादिक का श्रद्धान करते हैं, उनके गुण पहिचानते हैं और उनके तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं होता; इसलिये जिसके सच्चा अरहन्तादिक का श्रद्धान हो, उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है – ऐसा नियम सम्भव नहीं है?

समाधान – तत्त्वश्रद्धान बिना अरहन्तादिक के छियालीस आदि गुण जानता है, वह पर्यायाश्रित गुण जानता है; परन्तु भिन्न-भिन्न जीव-पुद्गल में जिसप्रकार सम्भव हैं, उसप्रकार यथार्थ नहीं पहिचानता, इसलिये सच्चा श्रद्धान भी नहीं होता; क्योंकि जीव-अजीव जाति पहिचाने बिना अरहन्तादिक के आत्माश्रित गुणों को व शरीराश्रित गुणों को भिन्न-भिन्न नहीं जानता। यदि जाने तो अपने आत्मा को परद्रव्य से भिन्न कैसे न माने? इसलिये प्रवचनसार में ऐसा कहा है –

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

इसका अर्थ यह है – जो अरहन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्व से जानता है, वह आत्मा को जानता है; उसका मोह विलय को प्राप्त होता है।

इसलिये जिसके जीवादिक तत्त्वों का श्रद्धान नहीं है, उसके अरहन्तादिक का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। तथा मोक्षादिक तत्त्व के श्रद्धान बिना अरहन्तादिक का माहात्म्य यथार्थ नहीं जानता।

लौकिक अतिशयादि से अरहन्त का, तपश्चरणादि से गुरु का और परजीवों की अहिंसादि से धर्म की महिमा जानता है, सो यह पराश्रितभाव हैं।

तथा आत्माश्रित भावों से अरहन्तादिक का स्वरूप तत्त्वश्रद्धान होने पर ही जाना जाता है; इसलिये जिसके सच्चा अरहन्तादिक का श्रद्धान हो, उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है – ऐसा नियम जानना।

इसप्रकार सम्यक्त्व का लक्षण निर्देश किया।

१२. यहाँ प्रश्न है कि सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान व आपा-पर का श्रद्धान व आत्मश्रद्धान व देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान सम्यक्त्व का लक्षण कहा। तथा इन सर्व लक्षणों की परस्पर एकता भी दिखायी सो जानी; परन्तु अन्य-अन्य प्रकार लक्षण कहने का प्रयोजन क्या?

उत्तर – यह चार लक्षण कहे, उनमें सच्ची दृष्टि से एक लक्षण ग्रहण करने पर चारों लक्षणों का ग्रहण होता है। तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न-भिन्न विचार कर अन्य-अन्य प्रकार लक्षण कहे हैं।

जहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ तो प्रयोजन है कि इन तत्त्वों को पहिचाने तो यथार्थ वस्तु के स्वरूप का व अपने हित-अहित का श्रद्धान करे तब मोक्षमार्ग में प्रवर्ते।

तथा जहाँ आपा-पर का भिन्न श्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन जिससे सिद्ध हो उस श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है। जीव-अजीव के श्रद्धान का प्रयोजन आपा-पर का भिन्न श्रद्धान करना है।

तथा आस्रवादिक के श्रद्धान का प्रयोजन रागादिक छोड़ना है, सो आपा-पर का भिन्न श्रद्धान होने पर परद्रव्य में रागादि न करने का श्रद्धान होता है।

इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन आपा-पर के भिन्न श्रद्धान से सिद्ध होता जानकर इस लक्षण को कहा है।

तथा जहाँ आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ आपा-पर के भिन्न श्रद्धान का प्रयोजन इतना ही है कि – आपको आप जानना। आपको आप जानने पर, पर का भी विकल्प कार्यकारी नहीं है। ऐसे मूलभूत प्रयोजन की प्रधानता जानकर आत्मश्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।

तथा जहाँ देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ बाह्य

साधन की प्रधानता की है; क्योंकि अरहन्तदेवादिक का श्रद्धान सच्चे तत्त्वार्थ श्रद्धान का कारण है और कुदेवादिक का श्रद्धान कल्पित तत्त्वश्रद्धान का कारण है। सो बाह्य कारण की प्रधानता से कुदेवादिक का श्रद्धान छुड़ाकर सुदेवादिक का श्रद्धान कराने के अर्थ देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।

इसप्रकार भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की मुख्यता से भिन्न-भिन्न लक्षण कहे हैं।'' (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ--३२३-३२७, जयपुर प्रकाशन)

१३. प्रश्न – सम्यग्दर्शन पूज्य क्यों है?

उत्तर – क्योंकि सम्यग्दर्शन से ज्ञान में समीचीनता आती है।

(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र)

इन तीनों दर्शन-ज्ञान-चारित्र में पहिले समस्त प्रकार के उपायों से सम्यग्दर्शन भलेप्रकार अंगीकार करना चाहिए; क्योंकि इसके अस्तित्व में ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र होता है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान ये दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं, तथापि इनमें लक्षणभेद से पृथकता सम्भव है।

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २१, ३२)

सम्यग्दर्शन की आराधना करके ही सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिए; क्योंकि ज्ञान सम्यग्दर्शन का फल है। जिसप्रकार प्रदीप और प्रकाश साथ ही उत्पन्न होते हैं, फिर भी प्रकाश प्रदीप का कार्य है, उसीप्रकार यद्यपि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान साथ साथ होते हैं, फिर भी सम्यग्ज्ञान कार्य है और सम्यग्दर्शन उसका कारण।

(अनगारधर्मामृत अध्याय-३, श्लोक-१५)

जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष राजा को जानकर (उसकी) श्रद्धा करता है और फिर प्रयत्नपूर्वक उसका अनुचरण करता है अर्थात् उसकी सेवा करता है, उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक को जीव रूपी राजा को

जानना चाहिए, और फिर इसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए। और तत्पश्चात् उसी का अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव के द्वारा उसमें तन्मय होना चाहिए। (समयसार गाथा १७-१८)

सामान्य तथा विशेष द्रव्य सम्बन्धी अविरुद्धज्ञान ही सम्यक्त्व की सिद्धि करता है। उससे विपरीत ज्ञान नहीं। (बृहत्नयचक्र गाथा-२४८)

सम्यग्दर्शन के होते ही जो भूतपूर्व ज्ञान व चारित्र था, वह सम्यक् विशेषण सहित हो जाता है। अतः सम्यग्दर्शन अभूतपूर्व के समान ही सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को उत्पन्न करता है, ऐसा कहा जाता है।

१४. प्रश्न – सूत्र में पहिले ज्ञान का ग्रहण करना उचित है; क्योंकि एक तो दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है और दूसरे ज्ञान में दर्शन शब्द की अपेक्षा कम अक्षर है?

उत्तर – यह कहना युक्त नहीं है; क्योंकि दर्शन और ज्ञान युगपत् उत्पन्न होते हैं। जैसे मेघ पटल के दूर हो जाने पर सूर्य के प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रगट होते हैं। उसी प्रकार जिस समय आत्मा की सम्यग्दर्शन पर्याय उत्पन्न होती है, उसी समय उसके मति-अज्ञान और श्रुत अज्ञान का निराकरण होकर मतिज्ञान और श्रुत ज्ञान प्रगट होते हैं।
(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र-१, पृष्ठ-५)

सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति के नियम

वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से अर्थात् परिणामभाव से और अधिगम से अर्थात् उपदेश के निमित्त से उत्पन्न होता है।
(तत्त्वार्थसूत्र अध्याय-१, सूत्र-३)

जिसप्रकार औपशमिक सम्यग्दर्शन निसर्ग व अधिगम दोनों से होता है, उसी प्रकार क्षायोपशमिक व क्षायिक सम्यक्त्व भी दोनों प्रकार से होते हुए भले प्रकार प्रतीत हो रहे हैं। (श्लोकवार्तिक अधिकार-२, ३)

लब्धि आदि

जब देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरंग कारण तथा करणलब्धिरूप अन्तरंग कारण रूप सामग्री की प्राप्ति होती है, तभी यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक हो सकता है।

(महापुराण, सर्ग-९, श्लोक ११६, पृष्ठ-११९)

(विष आदि के नाश की भाँति) दर्शनमोह के नाश में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव हेतु होते हैं।

तहाँ जिनेन्द्र बिम्ब आदि तो **द्रव्य** हैं, समवशरण आदि **क्षेत्र** हैं। अर्ध – पुद्गलपरावर्तन विशेष **काल** है, अधःप्रवृत्तिकरण आदि **भाव** हैं।

उस मोहनीय कर्म का अभाव होने पर ही उपशमादि की प्रतिपत्ति होती है। दूसरे प्रकारों से उन उपशम आदि के होने का अभाव है।

(श्लोकवार्तिक पुस्तक-३,१,३,११,८२,२२)

'आदि' शब्द से जाति स्मरण आदि का अर्थात् जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन, देवर्द्धिदर्शन व वेदना आदि का ग्रहण होता है। ये जातिस्मरण आदि बाह्यनिमित्त हैं।

(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-२, सूत्र-३)

तीर्थंकर, केवली, श्रमण, भवस्मरण, शास्त्र, देवमहिमा आदि बहुत प्रकार के बाह्य हेतु मानने चाहिए। **(वृहत् नयचक्र गाथा-३१६)**

अल्पाक्षरवाले शब्द से पूज्य शब्द पहले रखा जाता है, इसलिए सूत्र में पहले ज्ञान शब्द को न रखकर दर्शन शब्द को रखा है।

१५. प्रश्न – सम्यग्दर्शन पूज्य क्यों हैं?

उत्तर – क्योंकि सम्यग्दर्शन से ज्ञान में समीचीनता आती है।

(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र-१,७,५)

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्ज्ञान की विभिन्न परिभाषाएँ

१. सम्यग्ज्ञान को ही ज्ञान संज्ञा है।

२. उक्त ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष का मूल निजपरमतत्त्व में स्थित ऐसा एक सहज ज्ञान ही है। तथा सहजज्ञान पारिणामिकभावरूप स्वभाव के कारण भव्य का परमस्वभाव होने से, सहजज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है।

(नियमसार तात्पर्यवृत्ति गाथा-१२, पृष्ठ-२९)

३. जो योगी/मुनि, जीव-अजीव पदार्थ का भेद जिनवर के मतकरि जाणै हैं, सो सम्यग्ज्ञान सर्वदर्शी कह्या है, सो ही सत्यार्थ है। अन्य छद्मस्थ का कह्या सत्यार्थ नाहीं।

(मोक्षपाहुड़, गाथा-४१, पृष्ठ-२५४)

४. जिन प्रणीत हेयोपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

(नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-५१, पृष्ठ-१०८)

५. परद्रव्य का अवलम्बन लिये बिना निःशेषरूप से अन्तर्मुख योगशक्ति में से उपादेय (उपयोग को सम्पूर्णरूप से अन्तर्मुख करके ग्रहण करने योग्य) ऐसा जो निज परमात्मतत्त्व का परिज्ञान, सो ज्ञान है। **(नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-३, पृष्ठ-९)**

६. जो जानता है वह ज्ञान है। जिसके द्वारा जाना जाय, सो ज्ञान है। जाननामात्र ज्ञान है। **(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र-१, पृष्ठ-५)**

७. साकारोपयोग का नाम ज्ञान है। **(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-२, सूत्र-९)**

८. जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस प्रकार से उनका जानना-सम्यग्ज्ञान है।

(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र-५, पृष्ठ-१३)

९. ज्ञान के पहिले सम्यग्विशेषण विमोह (अनध्यवसाय) संशय और विपर्यय ज्ञानों का निराकरण करने के लिए दिया गया है।

(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र-१, पृष्ठ-५)

१०. जिसके द्वारा द्रव्य, गुण, पर्यायों को जानते हैं, उसे ज्ञान कहते हैं।

(धवला पुस्तक-१, खण्ड-१, भाग-१, पृष्ठ-१४४)

११. जिससे यथार्थ रीति से वस्तु जानी जाय उसे संवित् (ज्ञान) कहते हैं। (धवला पुस्तक-१, खण्ड-१, भाग-१, पृष्ठ-१४५)

१२. शुद्धनय की विवक्षा में वस्तुस्वरूप का उपलम्भ करनेवाले धर्म को ही ज्ञान कहा है।

१३. सद्भाव अर्थात् वस्तुस्वरूप का निश्चय करनेवाले धर्म को ज्ञान कहते हैं।

१४. सविकल्प उपयोग का नाम ज्ञान है। (द्रव्यसंग्रह गाथा-४, टीका)

१५. सत्यार्थ का प्रकाश करनेवाली शक्ति विशेष का नाम ज्ञान है।

१६. मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं।

(तत्त्वार्थसूत्र अध्याय-१, सूत्र-९)

१७. नय व प्रमाण के विकल्प पूर्वक जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। (बृहद्नयचक्र, गाथा-३२६, पृष्ठ-१६२)

१८. जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनतारहित तथा अधिकतारहित, विपरीततारहित, जैसा का तैसा, सन्देह रहित जानता है, उसको आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-४२, पृष्ठ-८३)

१९. आत्मस्वरूप और अन्य पदार्थ के स्वरूप का जो संशय, विमोह

और विभ्रम (विपर्यय) रूप कुज्ञान से रहित जानना है, वह सम्यग्ज्ञान है। (द्रव्यसंग्रह, गाथा-४२, पृष्ठ-२०६)

२०. सत् और असत् पदार्थों में व्यवहार करनेवाला सम्यग्ज्ञान है।

(सिद्धि विनिश्चय १०/१९/६८४)

२१. सात तत्त्व और नौ पदार्थों में निश्चयनय से अपना शुद्धात्मद्रव्य ही उपादेय है। इसके सिवाय शुद्ध या अशुद्ध परजीव, अजीव आदि सभी हेय हैं। इसप्रकार संक्षेप से हेय तथा उपादेय भेदों से व्यवहार ज्ञान दो प्रकार का है। (द्रव्यसंग्रह, गाथा-४२, पृष्ठ-२०६)

२२. ज्ञान में अर्थ (विषय) प्रतिबोध के साथ-साथ यदि अपना स्वरूप भी प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उसको सम्यग्ज्ञान कहना चाहिए। (तत्त्वार्थसार अधिकार-१, श्लोक-१८)

२३. निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान ही निश्चयज्ञान है।

(द्रव्यंसग्रह, गाथा-४२, पृष्ठ-२०६)

२४. उस शुद्धात्मा को उपाधि रहित स्वसंवेदनरूप भेदज्ञान द्वारा मिथ्यारागादि परभावों से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है।

(द्रव्यसंग्रह, गाथा-८२, पृष्ठ-२४७)

२५. उसी (अतीन्द्रिय) सुख को रागादि समस्त विभावों से स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है।

(द्रव्यसंग्रह, गाथा-४०, पृष्ठ-१८६)

२६. एवंभूतनय की दृष्टि में ज्ञानक्रिया में परिणत आत्मा ही ज्ञान है; क्योंकि वह ज्ञानस्वभावी है। (राजवार्तिक अध्याय-१, सूत्र-१, पृष्ठ-३)

* ज्ञान, जीव का एक विशेष गुण है, जो स्व व पर दोनों को जानने में समर्थ है। वह पाँच प्रकार का है – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान।

- अनादिकाल से मोहमिश्रित होने के कारण यह स्व व पर में भेद नहीं देख पाता। शरीर आदि पर पदार्थों को ही निजस्वरूप मानता है, इसी से मिथ्याज्ञान या अज्ञान नाम पाता है।
- जब सम्यक्त्व के प्रभाव से परपदार्थों से भिन्न निज स्वरूप को जानने लगता है, तब भेदज्ञान नाम पाता है; वही सम्यज्ञान है।
- **ज्ञान वास्तव में सम्यक् मिथ्या नहीं होता; परन्तु सम्यक्त्व या मिथ्यात्व के सहकारीपने से सम्यक् मिथ्या नाम पाता है।**
- सम्यग्ज्ञान ही श्रेयोमार्ग की सिद्धि करने में समर्थ होने के कारण जीव को इष्ट है। जीव का अपना प्रतिभास तो निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उसको प्रगट करने में निमित्तभूत आगमज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहलाता है।
- वहाँ निश्चय सम्यग्ज्ञान ही वास्तव में मोक्ष का कारण है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान नहीं। **(जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग-२, पृष्ठ-२५५)**

सम्यग्ज्ञान की महिमा

१. जो अर्हन्त को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने से जानता है, वह आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है। **(प्रवचनसार, गाथा-८०, पृष्ठ-१४१)**

२. जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष राजा को जानकर (उसकी) श्रद्धा करता है और फिर प्रयत्नपूर्वक उसका अनुचरण करता है अर्थात् उसकी सेवा करता है, उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक को जीवरूपी राजा को जानना चाहिए, और फिर इसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए। और तत्पश्चात् उसी का अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव के द्वारा उसमें तन्मय होना चाहिए।

(समयसार, गाथा-१७-१८, पृष्ठ-४७)

३. 'आत्मा व्याप्यव्यापक भाव से पुद्गल का परिणाम नहीं करता

है'। यह बात निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर जो जानता है, वह ज्ञानी होता है; परिज्ञान मात्र से नहीं।

(समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-१०१, पृष्ठ-१११)

४. जो जिनेन्द्र के उपदेश को प्राप्त करके मोह, राग, द्वेष को हरता है; वह अल्पकाल में सर्व दुःखों से मुक्त होता है।

(प्रवचनसार, गाथा-८८, पृष्ठ-१५७)

५. जो आत्मा इस समयप्राभृत को पढ़कर अर्थ और तत्त्व को जानकर उसके अर्थ में स्थित होगा, वह उत्तम सौख्यस्वरूप होगा।

(समयसार, गाथा-४१५, पृष्ठ-६४३)

६. जो जीव उस अस्तित्व निष्पन्न तीन प्रकार से कथित द्रव्यस्वभाव को जानता है, वह अन्य द्रव्य में मोह को प्राप्त नहीं होता।

(प्रवचनसार, गाथा-१५४, पृष्ठ-३१३)

७. श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान के होती है, निश्चय आगम द्वारा होता है; अतः आगम में व्यापार मुख्य है। **(प्रवचनसार, गाथा-२३२, पृष्ठ-४५२)**

८. **यदि श्रमण कर्त्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है, ऐसा निश्चयवाला होता हुआ अन्यरूप परिणमित ही नही हो तो वह शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता है।**

(प्रवचनसार, गाथा-१२६, पृष्ठ-२५७)

९. इस प्रकार प्रवचन के सारभूत 'पंचास्तिकायसंग्रह' को जानकर जो रागद्वेष को छोड़ता है, वह दुःख से परिमुक्त होता है।

(पंचास्तिकाय, गाथा-१०३, पृष्ठ-१३९)

१०. जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचलरूप से ज्ञानस्वरूपी होता हुआ या परिणमता हुआ भासित होता है, वही मोक्ष का हेतु है; क्योंकि आत्मा स्वयमेव मोक्षस्वरूप है। उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है वह बन्ध का हेतु हैं; क्योंकि वह

स्वयमेव बन्धस्वरूप है। इसलिए आगम में ज्ञानस्वरूप होने का अर्थात् अनुभूति करने का ही विधान है।

(समयसार, कलश-१०५, पृष्ठ-२५४)

११. तात्पर्य दो प्रकार का होता है – सूत्र तात्पर्य और शास्त्र तात्पर्य। उसमें सूत्र तात्पर्य प्रत्येक सूत्र में प्रतिपादित किया गया है और शास्त्र तात्पर्य अब प्रतिपादित किया जाता है। साक्षात मोक्ष के कारणभूत परमवीतरागपने में जिसका समस्त हृदय स्थित है, ऐसे इस (पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व व नवपदार्थ के प्रतिपादक) यथार्थ पारमेश्वर शास्त्र का, परमार्थ से वीतरागपना ही तात्पर्य है।

(पंचास्तिकाय तत्त्वप्रदीपिका, गाथा-१७२)

१२. ज्ञानसमय की प्रसिद्धि के लिए शब्दसमय के सम्बन्ध से अर्थसमय का कथन करना चाहते हैं।

(पंचास्तिकाय तत्त्वप्रदीपिका, गाथा-३, पृष्ठ-७)

१३. यदि कोई पुरुष ज्ञानात्मक आत्मा को तथा यथोचितरूप से परकीय चेतनाचेतन द्रव्यों को निश्चय के अनुकूल भेदज्ञान का आश्रय लेकर जानता है तो वह मोह का क्षय कर देता है। और यह स्व-परभेदविज्ञान आगम से सिद्ध होता है।

(प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-८९, पृष्ठ-१२६)

१४. वास्तव में यही आत्मा और बन्ध के द्विधा करने का प्रयोजन है कि बन्ध के त्याग से शुद्धात्मा को ग्रहण करना है।

(समयसार आत्मख्याति, गाथा-२९५, पृष्ठ-४६७)

१५. इसप्रकार देह और आत्मा के भेदज्ञान को जानकर मोह के उदय से उत्पन्न समस्त विकल्प जाल को त्याग कर निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र निज परमात्म तत्व में भावना करनी चाहिए। ऐसा तात्पर्य है। (समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-२५, पृष्ठ-३८)

१६. भेद विज्ञान हो जाने पर मोक्षार्थी जीव स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति करता है, ऐसा भावार्थ है।

(प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-१८२, पृष्ठ-२५९)

१७. बहिरंग परमागम के अभ्यास से अभ्यन्तर स्वसंवेदन ज्ञान का होना सम्यग्ज्ञान है। (प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-२६३, पृष्ठ-३५४)

१८. यहाँ यह भावार्थ है कि व्यवहारनय से तो तत्व का विचार करते समय सविकल्प अवस्था में ज्ञान का लक्षण स्वपरपरिच्छेदक कहा जाता है। और निश्चयनय से वीतराग निर्विकल्प समाधि के समय यद्यपि अनिहित वृत्ति से उपयोग में बाह्य पदार्थों का निराकरण किया जाता है। फिर भी यहाँ पूर्व विकल्पों का अभाव होने से उसे गौण करके स्वसंवेदन ज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं।

(परमात्मप्रकाश टीका अध्याय-२, गाथा-२९)

१९. मात्र आचारांगादि शब्द श्रुत ही (एकान्त से) ज्ञान का आश्रय नहीं है; क्योंकि उसके श्रद्धान में भी अभव्यों को शुद्धात्मा के अभाव के कारण ज्ञान का अभाव है।

(समयसार आत्मख्याति, गाथा -२७७, पृष्ठ-४४०)

२०. आत्मा के दो भेद हैं – एक स्वसमय और दूसरा परसमय। जो जीव इन दोनों को द्रव्य, गुण व पर्याय से जानता है, वह ही वास्तव में आत्मा को जानता है। वह जीव ही शिवपथ का नायक होता है। (रयणसार, गाथा-१४४, पृष्ठ-१३९)

२१. ज्ञानप्रकाश ही उत्कृष्ट प्रकाश है, क्योंकि किसी के द्वारा भी इसका प्रतिघात नहीं हो सकता। सूर्य का प्रकाश यद्यपि उत्कृष्ट समझा जाता है; परन्तु वह भी अल्पमात्र क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है। ज्ञान प्रकाश समस्त जगत् को प्रकाशित करता है।

(भगवती आराधना, गाथा-७६८)

२२. 'ज्ञान' अनुष्ठान का स्थान है, मोहान्धकार का विनाश करनेवाला है, पुरुषार्थ का करनेवाला है, और मोक्ष का कारण है।

(योगसार-प्राभृत, अधिकार-९, श्लोक-४८८)

२३. ज्ञान, संसार और मुक्ति-दोनों के कारणों को प्रकाशित करता है।

व्रत, तप, गुप्ति व संयम को प्रकाशित करता है, तथा तीनों के संयोगरूप जिनोपदिष्ट मोक्ष को प्रकाशित करता है।

(भगवती आराधना, गाथा-७६९)

२४. जिस मार्ग में अज्ञानी चलते हैं उसी मार्ग में विद्वद्जन चलते हैं; परन्तु अज्ञानी तो अपनी आत्मा को बाँध लेता है और तत्त्वज्ञानी बन्धरहित हो जाता है, यह ज्ञान का माहात्म्य है।

(ज्ञानार्णव अधिकार-७, श्लोक-२१, पृष्ठ-१६७)

२५. सामान्य तथा विशेष द्रव्य सम्बन्धी अविरुद्धज्ञान ही सम्यक्त्व की सिद्धि करता है। उससे विपरीत ज्ञान नहीं।

(बृहदनयचक्र, गाथा-२४८, पृष्ठ-१२५)

२६. जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाय, जिससे मन का व्यापार रुक जाय, जिससे आत्मा विशुद्ध हो, जिनशासन में उसे ही ज्ञान कहा गया है। (मूलाराधना, गाथा-२६७)

२७. जिससे राग से विरक्त हो, जिससे श्रेयस मार्ग में रक्त हो, जिससे सर्व प्राणियों में मैत्री प्रवर्ते, वही जिनमत में ज्ञान कहा गया है।

(मूलाराधना, गाथा-२६८)

२८. जबतक इस संसाररूपी वन में सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य उदित होकर संसार भयदायक अज्ञानान्धकार का उच्छेद नहीं करता तब तक ही मोहान्ध प्राणी निज स्वरूप से च्युत हुए गिरते-पड़ते चलते हैं।

(ज्ञानार्णव अधिकार-७, श्लोक-२३, पृष्ठ-१६८)

२९. जो कोई प्राणी गुरुपदेश से अथवा शास्त्राभ्यास से या स्वात्मानुभव से स्व व पर के भेद को जानता है, वही पुरुष सदा मोक्षसुख को जानता है। (इष्टोपदेश, श्लोक-३३, पृष्ठ-३८)

३०. जिनेन्द्र भगवान ने निजद्रव्य को जानने के लिए ही अन्य छह द्रव्यों का कथन किया है। अतः मात्र उन पररूप छह द्रव्यों का जानना सम्यग्ज्ञान नहीं है। (बृहद्नयचक्र, गाथा-२८४, पृष्ठ-१४०)

३१. तप करो, संयम पालो, सकल शास्त्रों को पढ़ो; परन्तु जबतक आत्मा को नहीं ध्याता तबतक मोक्ष नहीं होता।

(आराधनासार, श्लोक-१११, पृष्ठ-२२३)

३२. विद्वान पुरुषों ने **आत्मध्यान में प्रेम होना विद्वत्ता का उत्कृष्ट फल बतलाया है** और आत्मध्यान में प्रेम न होकर केवल अनेक शास्त्रों को पढ़ लेना संसार कहा है।

(योगसार-प्राभृत, अधिकार-७, श्लोक-३४५)

३३. जो ज्ञानस्वरूप आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह आगम का पठन-पाठन करते हुए भी शास्त्र को नहीं जानता।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-४६६, पृष्ठ-२१९)

३४. अन्यत्र ग्रन्थ में कहा भी है कि द्रव्य श्रुत के अभ्यास से भाव होते हैं, उससे बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार का संवेदन होता है, उससे शुद्धात्मा की संवित्ति होती है और उससे केवलज्ञान होता है।

(वृहद्नयचक्र, गाथा-२९७, पृष्ठ-१४६)

३५. उस विकल्परूप व्यवहार ज्ञान के द्वारा साध्य निश्चय ज्ञान का कथन करते हैं। **निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान को ही निश्चयज्ञान कहते हैं।** (द्रव्यसंग्रह, गाथा-४२, पृष्ठ-१८६)

३६. मुक्ति की अभिलाषा करनेवाले को मात्र ज्ञान भावना का चिन्तवन करना चाहिए कि जिससे अविनश्वर ज्ञान की प्राप्ति होती है। परन्तु अज्ञानी प्राणी ज्ञानभावना का फल ऋद्धि आदि की प्राप्ति समझते हैं, सो उनके प्रबल मोह की महिमा है।

(आत्मानुशासन, श्लोक-१७४, पृष्ठ-१६९)

३७. इस शास्त्र का प्रयोजन व्यवहार से षट् द्रव्य आदि का परिज्ञान है और निश्चय से निज निरंजनशुद्धात्मसंवित्ति से उत्पन्न परमानन्दरूप एक लक्षणवाले सुखामृत के रसास्वादरूप स्वसंवेदन ज्ञान है।

(द्रव्यसंग्रह, गाथा-१, पृष्ठ-८)

३८. शुद्ध नय के आश्रित जो जीव का स्वरूप है, वह तो उपादेय है और शेष सब ज्ञेय है। इस प्रकार हेयोपादेय रूप से भावार्थ भी समझना चाहिए। (द्रव्यसंग्रह, गाथा-२, पृष्ठ-११)

३९. निश्चय से स्वकीय शुद्धात्म द्रव्य उपादेय है और शेष सब हेय है। इसप्रकार संक्षेप से हेयोपादेय के भेद से दो प्रकार व्यवहार ज्ञान है। उसके विकल्परूप व्यवहार ज्ञान के द्वारा निश्चयज्ञान साध्य है। सम्यक् और निर्विकल्प अपने स्वरूप का वेदन करना निश्चयज्ञान है। (द्रव्यसंग्रह, गाथा-४२, पृष्ठ-२१०)

सम्यग्ज्ञान, भेद-प्रभेद

- सामान्यरूप से ज्ञान एक है।
- ज्ञान दो प्रकार का है – प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष के दो भेद हैं – मतिज्ञान व श्रुतज्ञान।
- प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं – अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।
- चैतन्य शक्ति के दो आकार हैं – ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार।
- द्रव्य, गुण, पर्याय रूप विषयभेद से ज्ञान तीन प्रकार का है।
- नामादि निक्षेपों के भेद से ज्ञान चार प्रकार का है।
- मति आदि की अपेक्षा ज्ञान पाँच प्रकार का है।
- ज्ञेयाकार परिणति के भेद से ज्ञान के संख्यात, असंख्यात व अनन्त विकल्प होते हैं।
- ज्ञान, पापरूपी तिमिर नष्ट करने के लिए सूर्य के समान हैं।
- ज्ञान, मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवास करने के लिए कमल के समान हैं।
- ज्ञान, कामरूपी सर्प को कीलने के लिए मन्त्र के समान है।
- ज्ञान, मनरूपी हस्ती/हाथी को सिंह के समान है।

- ज्ञान, आपदारूपी मेघों को उड़ाने के लिए पवन के समान है।
- ज्ञान, समस्त तत्त्वों का प्रकाश करने के लिए दीपक के समान है।
- विषयरूपी मत्स्यों को पकड़ने के लिए ज्ञान, जाल के समान है।

कैसा है संसाररूपी वन?

- जहाँ पापरूपी सर्प के विष से समस्त प्राणी व्याप्त हैं।
- जहाँ क्रोधादि पापरूपी बड़े-बड़े पर्वत हैं और
- जो वक्र गमनवाली दुर्गतिरूपी नदियों में गिरने से उत्पन्न हुए भयंकर सन्ताप से अतिशय भयानक हैं।
- **तथापि ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश होने से किसी प्रकार का दुःख व भय नहीं रहता है।**
- ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। ज्ञान से मोक्ष प्रगट होता है।

प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न – हे भगवन! 'यह धर्मास्तिकाय है। यह जीव है।' इत्यादि ज्ञेय तत्त्व के विचारकाल में किये गये विकल्पों से यदि कर्मबन्ध होता है तो ज्ञेयतत्त्व का विचार करना व्यर्थ है। इसलिए वह नहीं करना चाहिए?

उत्तर – ऐसा नहीं करना चाहिए। यद्यपि त्रिगुप्ति गुप्त निर्विकल्प समाधि के समय वह नहीं करना चाहिए। तथापि उस त्रिगुप्तिरूप ध्यान का अभाव हो जाने पर शुद्धात्मा को उपादेय समझते हुए या आगम भाषा में एकमात्र मोक्ष को उपादेय करके सराग सम्यक्त्व के काल में विषयकषाय से बचने के लिए अवश्य करना चाहिए।

(समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-१०३)

२. प्रश्न – 'ज्ञानावरण' नाम के स्थान पर 'ज्ञानविनाशक' ऐसा नाम क्यों नहीं कहा?

उत्तर – नहीं, क्योंकि जीव के लक्षणस्वरूप ज्ञान और दर्शन का विनाश नहीं होता है। यदि ज्ञान और दर्शन का विनाश माना जाये, तो

जीव का भी विनाश हो जायेगा, क्योंकि लक्षण से रहित लक्ष्य पाया नहीं जाता। (धवला पुस्तक ६, खण्ड-१, भाग-१, पृष्ठ ६ और ७)

३. प्रश्न – ज्ञान का विनाश नहीं मानने पर सभी जीवों के ज्ञान का अस्तित्व प्राप्त होता है?

उत्तर – ज्ञान का विनाश नहीं मानने पर यदि सर्व जीवों के ज्ञान का अस्तित्व प्राप्त होता है तो होने दो, उसमें कोई विरोध नहीं है। अपना 'अक्षर का अनन्तवाँ भाग ज्ञान नित्य उद्घाटित रहता है।' इस सूत्र के अनुकूल होने से सर्व जीवों के ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध है।

(धवला पुस्तक ६, खण्ड-१, भाग-१, पृष्ठ ६ और ७)

४. प्रश्न – कर्म विद्यमान मत्यादि का आवरण करता है या अविद्यमान का? यदि विद्यमान का तो जब वह स्वरूपलाभ करके विद्यमान ही है तो आवरण कैसा? और यदि अविद्यमान का तो भी खरविषाण की तरह उसका आवरण कैसा?

उत्तर – द्रव्यार्थदृष्टि से सत् और पर्यायदृष्टि से असत् मति आदि का आवरण होता है। अपना मति आदि का कहीं प्रत्यक्षीभूत ढेर नहीं लगा है, जिसको ढक देने से मत्यावरण आदि कहे जाते हों; किन्तु मत्यावरण आदि के उदय से आत्मा में मति आदि ज्ञान उत्पन्न नहीं होते; इसलिए उन्हें आवरण संज्ञा दी गयी है।

(राजवार्तिक अध्याय-८, खण्ड-२, पृष्ठ-८७)

५. प्रश्न – इन सातों ज्ञानों के सात ही आवरण क्यों नहीं?

उत्तर – नहीं होते; क्योंकि, पाँच ज्ञानों के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान पाये नहीं जाते। किन्तु इससे मत्यज्ञान, श्रुतज्ञान और विभंगज्ञान का अभाव नहीं हो जाता; क्योंकि, उनका यथाक्रम से आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में अन्तर्भाव होता है।

यदि आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान होने पर भी आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है।

चारित्र से श्रुत प्रधान है, इसलिए उसकी अग्र्य संज्ञा है।

(धवला पुस्तक ७, खण्ड-२, पृष्ठ-८७)

६. प्रश्न – चारित्र से श्रुत की प्रधानता किस कारण से है?

उत्तर – क्योंकि श्रुतज्ञान के बिना चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए **चारित्र की अपेक्षा श्रुत की प्रधानता है।**

जो पहले जानता है वही त्याग करता है, अन्य तो कोई त्याग करनेवाला नहीं है; इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही हो।

(धवला पुस्तक १३, खण्ड-५, पृष्ठ-२८८)

७. प्रश्न – मिथ्यादृष्टि जीवों के ज्ञान को अज्ञानपना कैसे कहा?

उत्तर – क्योंकि, उनका ज्ञान, ज्ञान का कार्य नहीं करता है।

८. प्रश्न – ज्ञान का कार्य क्या है?

उत्तर – जाने हुए पदार्थ का श्रद्धान करना ज्ञान का कार्य है। इसप्रकार का ज्ञान मिथ्यादृष्टि जीवों में पाया नहीं जाता है। इसलिए उनके ज्ञान को ही अज्ञान कहा है। अन्यथा जीव के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा।

(धवला पुस्तक ५, खण्ड-१, पृष्ठ-२२४)

९. प्रश्न – दयाधर्म को जाननेवाले ज्ञानियों में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव में तो श्रद्धान पाया जाता है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि, दयाधर्म के ज्ञाताओं में भी, आप्त, आगम और पदार्थ के प्रति श्रद्धान से रहित जीव के यथार्थ श्रद्धान के होने का विरोध है। ज्ञान का कार्य नहीं करने पर ज्ञान में अज्ञान का व्यवहार लोक में अप्रसिद्ध भी नहीं है; क्योंकि पुत्र के कार्य को नहीं करनेवाले पुत्र में भी लोक के भीतर अपुत्र कहने का व्यवहार देखा जाता है।

(धवला पुस्तक ५, खण्ड-१, पृष्ठ-२२४)

सम्यक्चारित्र

सम्यक्चारित्र की विभिन्न परिभाषाएँ

१. पुण्य व पाप दोनों का त्याग करना चारित्र है।

(मोक्षपाहुड़, गाथा-३७, पृष्ठ-२९४)

२. चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है, ऐसा कहा है। साम्य, मोह-क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम है।

(मोक्षपाहुड़, गाथा-५०, पृष्ठ-३०३)

३. अपनी आत्मा को जानकर व उसका श्रद्धान करके जो परभाव को छोड़ता है, वह निजात्मा का शुद्धभाव, चारित्र होता है।

(मोक्षपाहुड़, गाथा-३७)

४. चारित्र वास्तव में धर्म है। (मोक्षपाहुड़, गाथा-५०, पृष्ठ-३०३)

५. जो जानै सो ज्ञान है, बहुरि जो देखे सो दर्शन है, ऐसा कह्या है। बहुरि ज्ञान और दर्शन के समायोग तैं चारित्र होय है।

(चारित्रपाहुड़, गाथा-३, पृष्ठ-७०)

६. पहला तो, जिनदेव के ज्ञानदर्शन व श्रद्धाकरि शुद्ध ऐसा सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और दूसरा संयमाचरण चारित्र है।

(चारित्रपाहुड़, गाथा-५, पृष्ठ-७१)

७. अपने मैं अर्थात् ज्ञानस्वभाव में ही निरन्तर चरने से चारित्र है।

(समयसार आत्मख्याति टीका, गाथा-३८६, पृष्ठ-५८३)

८. रागादिक का परिहार करना चारित्र है।

(समयसार आत्मख्याति, गाथा-१५५, पृष्ठ-२५७)

९. आत्माधीन ज्ञान व सुखस्वभावरूप शुद्धात्म द्रव्य में निश्चल निर्विकार अनुभूतिरूप जो अवस्थान है, वही निश्चय चारित्र का लक्षण है। (समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-३८, पृष्ठ-४८)

१०. जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है, वह आत्मा वास्तव में चारित्र है।

(समयसार, गाथा-३८६, पृष्ठ-५८२)

११. निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चय चारित्र है।

(नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-५५, पृष्ठ-१०९)

१२. स्वरूप में विश्रान्ति, सो ही परम वीतराग चारित्र है।

(नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-१५२, पृष्ठ-३०६)

१३. ज्ञेय और ज्ञाता की क्रियान्तर से अर्थात् अन्य पदार्थों के जाननेरूप क्रिया से निवृत्ति के द्वारा रचित दृष्टि ज्ञातृतत्त्व में (ज्ञाता-दृष्टा भाव में) परिणति जिसका लक्षण है, वह चारित्र पर्याय है।

(प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, टीका-, पृष्ठ-२४२)

१४. शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहरूप पदार्थों का त्याग करना उत्सर्ग मार्ग है। उसे ही निश्चयनय या निश्चयचारित्र व शुद्धोपयोग भी कहते हैं, इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है।

(प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-२३०, पृष्ठ-३२२)

१५. वीतराग चारित्र में असमर्थ पुरुष शुद्धात्म भावना के सहकारीभूत जो कुछ प्रासुक आहार तथा ज्ञानादि के उपकरणों का ग्रहण करता है, वह अपवाद मार्ग-व्यवहारनय या व्यवहार चारित्र, एकदेश परित्याग, अपहृत संयम, सराग चारित्र या शुभोपयोग कहलाता है। ये सब शब्द एकार्थवाची है।

(प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-२३०, पृष्ठ-३१५)

१६. स्वरूप में चरण करना चारित्र है, स्वसमय में प्रवृत्ति करना इसका अर्थ हैं। यही वस्तु का (आत्मा का) स्वभाव होने से धर्म है।
(प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा-७, पृष्ठ-११)

१७. जीव-स्वभाव में अवस्थित रहना ही चारित्र है; क्योंकि, स्वरूप में चरण करने को चारित्र कहा है।
(पंचास्तिकाय, गाथा-१५४, पृष्ठ-१८९)

१८. जो (आत्मा) अनन्यमय आत्मा को आत्मा से आचरता है, वह आत्मा ही चारित्र है। (पंचास्तिकाय गाथा-१६२, पृष्ठ-२०३)

१९. रागादि दोषों से रहित शुभध्यान में लीन आत्मस्वरूप वस्तु को उत्कृष्ट चारित्र जानों। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-१९)

२०. जिससे हित को प्राप्त करते हैं और अहित का निवारण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं। (भगवती आराधना, गाथा-२०, पृष्ठ-११)

२१. सज्जन जिसका आचरण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं, जिसके सामायिकादि भेद हैं। (भगवती आराधना, गाथा-२०, पृष्ठ-११)

२२. यह करने योग्य कार्य है, ऐसा ज्ञान होने के अनन्तर अकर्तव्य का त्याग करना चारित्र है। (भगवती आराधना, गाथा-४५, पृष्ठ-५७)

२३. अविरति, प्रमाद, कषायों का त्याग स्वाध्याय करने से तथा ध्यान करने से होता है, इस वास्ते वे भी चारित्ररूप हैं।
(भगवती आराधना-१, गाथा-६, पृष्ठ-४)

२४. जो संसार के कारणों के त्याग के प्रति उत्सुक है, परन्तु जिसके मन से राग के संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं, वह सराग कहलाता है। प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभ प्रवृत्ति के त्याग को संयम कहते हैं। (सर्वार्थसिद्धि अध्याय-६, सूत्र-१२, पृष्ठ-२५४)

२५. अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण इन बारह कषायों के उदयाभावी क्षय होने से और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा चार संज्वलन कषायों में से किसी एक

देशघाति प्रकृति के उदय होने पर और नव नोकषायों का यथा सम्भव उदय होने पर जो त्यागरूप परिणाम होता है, वह क्षायोपशमिक चारित्र है।

(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-२, सूत्र-५, पृष्ठ-११३)

२६. जो आचरण करता है, अथवा जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरण करना मात्र चारित्र है।

(राजवार्तिक अध्याय-१, सूत्र-१, पृष्ठ-४)

२७. जो ज्ञानी पुरुष संसार के कारणों को दूर करने के लिए उद्यत है, उसके कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया के त्याग को सम्यक्चारित्र कहते हैं। (राजवार्तिक अध्याय-१, सूत्र-१, पृष्ठ-६)

२८. सरागी जीव का संयम सराग है।

(राजवार्तिक अध्याय-६, सूत्र-१२, पृष्ठ-५२२)

२९. अनन्तानुबन्धी आदि १६ कषाय और हास्य आदि नव नोकषाय, इस प्रकार २५ तो चारित्रमोह की और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति ये तीन दर्शनमोहनीय की – ऐसे मोहनीय की कुल २८ प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक चारित्र होता है।

(राजवार्तिक अध्याय-२, सूत्र-३, पृष्ठ-१०४)

३०. पूर्वोक्त (देखो ऊपर औपशमिक चारित्र का लक्षण) दर्शन मोह की तीन और चारित्रमोह की २५; इन २८ प्रकृतियों के निरवशेष विनाश से क्षायिक चारित्र होता है।

(राजवार्तिक अध्याय-२, सूत्र-४, पृष्ठ-१०६)

३१. सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात – ऐसे चारित्र पाँच प्रकार का है।

(तत्त्वार्थसूत्र अध्याय-९, सूत्र-१८, पृष्ठ-१९३)

३२. तत्त्वार्थ की प्रतीति के अनुसार क्रिया करना, चरण कहलाता है। अर्थात् मन, वचन, काय से शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करना, चरण है।

(पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध गाथा-४१२ पृष्ठ-३८२)

३३. ज्ञानी जीव के जो संसार के कारणों को नष्ट करने के लिए बाह्य और अन्तरंग क्रियाओं का निरोध होता है, वह उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र है। (द्रव्यसंग्रह, गाथा-४६, पृष्ठ-२२३)

३४. समस्त संकल्प विकल्पों के त्याग द्वारा, उसी (वीतराग) सुख में सन्तुष्ट, तृप्त तथा एकाकार परम समता भाव से द्रवीभूत चित्त का पुनःपुनः स्थिर करना सम्यक्चारित्र है।

(द्रव्यसंग्रह, गाथा-४०, पृष्ठ-१८६)

३५. जो अशुभ कार्य से निवृत्त होना और शुभकार्य में प्रवृत्त होना है, उसको चारित्र जानना चाहिए, व्यवहारनय से उसको व्रत, समिति, गुप्ति स्वरूप कहा है। (द्रव्यसंग्रह, गाथा-४५, पृष्ठ-२२०)

३६. उस शुद्धात्मा में रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित स्वाभाविक सुख के आस्वादन से निश्चल चित्त होना, वीतराग चारित्र है। उसमें जो आचरण करना, सो निश्चय चारित्राचार है।

(द्रव्यसंग्रह, गाथा-२२, पृष्ठ-७६)

३७. योगियों का प्रमाद से होनेवाले कर्मास्रव से रहित होने का नाम चारित्र है। (पद्मनन्दि पंचविंशतिका अधिकार-१, गाथा-७२, पृष्ठ-३१)

३८. इष्ट अनिष्ट पदार्थों में समता भाव धारण करने को सम्यक्चारित्र कहते हैं। वह सम्यग्चारित्र यथार्थ रूप से तृषा रहित, मोक्ष की इच्छा करनेवाले, वस्त्ररहित और हिंसा का सर्वथा त्याग करनेवाले मुनिराज के ही होता है। (महापुराण-२४, श्लोक-११९)

३९. समता, माध्यस्थ्य, शुद्धोपयोग, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभाव की आराधना ये सब एकार्थवाची है।

(बृहद् नयचक्र, गाथा-३५६, पृष्ठ-१८०)

४०. श्रमण जो मूल व उत्तर गुणों को धारण करता है तथा पंचाचारों

का कथन करता है अर्थात् उपदेश आदि देता है और आठ प्रकार की शुद्धियों में निष्ठ रहता है, वह उसका सराग चारित्र है।

(बृहद् नयचक्र, गाथा-३३४, पृष्ठ-१६७)

४१. शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के योगों से निवृत्ति, वीतराग साधु का चारित्र है। (बृहद् नयचक्र, गाथा-३७८, पृष्ठ-१९१)

४२. आत्मा द्वारा संवेद्य जो निराकुलताजनक सुख सहज ही आता है, वह निश्चयात्मक चारित्र है। (मोक्ष पंचाशत्, श्लोक-४५)

४३. निश्चयनय से विविक्त चेतनध्यान-निश्चय चारित्र मोक्ष का कारण है। (योगसार प्राभृत (अमितगति) अधिकार-८, श्लोक-४५१)

४४. हिंसा, असत्य, चोरी तथा मैथुन सेवा और परिग्रह इन पाँचों पापों की प्रणालियों से विरक्त होना चारित्र है।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-४९, पृष्ठ-८८)

४५. समस्त पापयुक्त मन, वचन, काय के त्याग से सम्पूर्ण कषायों से रहित अतएव निर्मल, परपदार्थों से विरक्तारूप चारित्र होता है। इसलिए वह चारित्र आत्मा का स्वभाव है।

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक-३९, पृष्ठ-४९)

४६. मन से, वचन से, काय से, कृत कारित-अनुमोदना के द्वारा जो पापरूप क्रियाओं का त्याग है, उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं।

(तत्त्वानुशासन, श्लोक-२७)

४७. व्रतादि का आचरण करना व्यवहार चारित्र है।

(योगसार प्राभृत, अधिकार-८, गाथा-४५१)

४८. दर्शनाचार और चारित्राचार लक्षणवाला चारित्र दो प्रकार का है।

(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/२२३)

४९. शुद्धात्मानुभवन से अविनाभावी विशेष चारित्र को स्वरूपाचरण-चारित्र कहते हैं। (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्नोत्तर ११३)

- चारित्र मोक्षमार्ग का एक प्रधान अंग है।
- अभिप्राय के सम्यक् व मिथ्या होने से वह सम्यक् व मिथ्या हो जाता है।
- निश्चय, व्यवहार, सराग, वीतराग, स्व, पर आदि भेदों से वह अनेक प्रकार से निर्दिष्ट किया जाता है।
- वास्तव में वे सब भेद-प्रभेद किसी न किसी एक वीतरागता रूप निश्चय चारित्र के पेट में समा जाते हैं।
- ज्ञाता-दृष्टा, मात्र साक्षीभाव या साम्यता का नाम वीतरागता है। प्रत्येक चारित्र में वीतरागता का अंश अवश्य होता है।
- वीतरागता का सर्वथा लोप होने पर केवल बाह्य वस्तुओं का त्याग आदि चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं होता।
- इसका यह अर्थ भी नहीं कि बाह्य व्रत त्याग आदि बिल्कुल निरर्थक है, वह उस वीतरागता के अविनाभावी हैं तथा पूर्व भूमिका वालों को उसके साधक भी। (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-२, पृष्ठ-२८०)
- चारित्र यद्यपि एक प्रकार का है; परन्तु उसमें जीव के अन्तरंग भाव व बाह्य-त्याग दोनों बातें युगपत उपलब्ध होने के कारण, अथवा पूर्व भूमिका और ऊँची भूमिकाओं में विकल्प व निर्विकल्पता की प्रधानता रहने के कारण, उसका निरूपण दो प्रकार से किया जाता है – निश्चय चारित्र व व्यवहारचारित्र।
- तहाँ जीव की अन्तरंग विरागता या साम्यता तो निश्चय चारित्र और उसका बाह्य वस्तुओं का ध्यानरूप व्रत, बाह्य क्रियाओं में यत्नाचार रूप समिति और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को नियंत्रित करने रूप गुप्ति ये व्यवहार चारित्र हैं।
- व्यवहार चारित्र का नाम सराग चारित्र भी है। और निश्चय चारित्र का नाम वीतराग चारित्र।

* निचली भूमिकाओं में व्यवहार चारित्र की प्रधानता रहती है। ऊपर ऊपर की ध्यानस्थ भूमिकाओं में निश्चय चारित्र की।

(* जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-२, पृष्ठ-२८३)

सम्यक्चारित्र की महिमा

१. जो ज्ञानी होते हुए अमूढ़दृष्टि होकर सम्यक्त्वाचरण चारित्र से शुद्ध होता है और जो संयमाचरण चारित्र से सम्यक् प्रकार शुद्ध हो तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

(चारित्रपाहुड़, गाथा-९, पृष्ठ-७५)

२. दर्शनाचार और चारित्राचार इन दोनों में सम्यक्त्वाचरण चारित्र पहले होता है। (चारित्रपाहुड़, गाथा-८)

३. जिन का सम्यक्त्व विशुद्ध होय ताहि यथार्थ ज्ञान करि आचरण करै, सो प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र है, सो मोक्षस्थान के अर्थ होय है। (चारित्रपाहुड़, गाथा-८)

४. ज्ञान और दर्शन के समायोग से चारित्र होता है।

(बोधपाहुड़, गाथा-२०, पृष्ठ-११३)

५. भव्य जीवों को सम्यक्त्वरूपी रसायन द्वारा पहले मिथ्यामल का शोधन करना चाहिए, पुनः चारित्ररूप औषध का सेवन करना चाहिए। इसप्रकार करने से कर्मरूपी रोग का तत्काल ही नाश हो जाता है। (रयणसार, गाथा-७३, पृष्ठ-७१)

६. मोक्ष के इच्छुक को पहले जीवराजा को जानना चाहिए, फिर उसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए, और तत्पश्चात् उसका आचरण करना चाहिए। (समयसार, गाथा-१८, पृष्ठ-४७)

७. अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं, ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, अतः प्रत्याख्यान ज्ञान ही है। (समयसार, गाथा-३४, पृष्ठ-७०)

८. शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है, क्योंकि छह जीव निकाय

के सद्भाव में या असद्भाव में उसके सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव होता है। (समयसार आत्मख्याति, गाथा-२७३)

९. दर्शन-ज्ञान प्रधान चारित्र से यदि वह वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है, और उससे ही यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र, असुरेन्द्र व नरेन्द्र के वैभव क्लेशरूप बन्ध की प्राप्ति होती है।

(प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, गाथा-६, पृष्ठ-१०)

१०. यह जीव श्रद्धान या ज्ञान सहित होता हुआ भी यदि चारित्ररूप पुरुषार्थ के बल से रागादि विकल्परूप असंयम से निवृत्त नहीं होता तो उसका वह श्रद्धान व ज्ञान उसका क्या हित कर सकता है? कुछ भी नहीं। (प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-२३७)

११. धर्म शब्द से – अहिंसा लक्षणधर्म, सागार-अनागारधर्म, उत्तमक्षमादिलक्षणधर्म, रत्नत्रयात्मकधर्म, तथा मोह क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम या शुद्ध वस्तुस्वभाव ग्रहण करना चाहिए। वह ही धर्म पर्यायान्तर शब्द द्वारा चारित्र भी कहा जाता है।

(प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-११, पृष्ठ-२०)

१२. मुमुक्षु जनों को इष्ट फलरूप होने के कारण वीतरागचारित्र उपादेय है। (प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-११, पृष्ठ-२०)

१३. जिसमें कषाय कण विद्यमान होने से जीव को जो पुण्य बन्ध की प्राप्ति का कारण है, ऐसे सराग चारित्र को वह सराग चारित्र क्रम से आ पड़ने पर भी (गुणस्थान) आरोहण के क्रम में बलात् चारित्र मोह के मंद उदय से आ पड़ने पर भी) दूर उल्लंघन करके .....

(प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, गाथा-५, पृष्ठ-९)

१४. अनिष्ट फलप्रदायी होने से सराग चारित्र हेय है।

(प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, गाथा-६, पृष्ठ-१०)

१५. जो वह धर्म परिणत स्वभाव वाला होनेपर भी शुभोपयोग परिणति के साथ युक्त होता है, तब जो विरोधी शक्ति सहित होने से

स्वकार्य करने में असमर्थ है, और कथंचित् विरुद्ध कार्य (अर्थात् बन्ध को) करनेवाला है, ऐसे चारित्र से युक्त होने से, जैसे अग्नि से गर्म किया घी किसी मनुष्य पर डाल दिया जाये तो वह उसकी जलन से दुःखी होता है, उसी प्रकार वह स्वर्ग सुख के बन्ध को प्राप्त होता है। (प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, गाथा-११, पृष्ठ-१८)

१६. स्वरूप में रमना सो चारित्र है। स्वसमय में अर्थात् स्वभाव में प्रवृत्ति करना यह इसका अर्थ है। यह वस्तु (आत्मा) का स्वभाव होने से धर्म है। (प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका गाथा-७, पेज-९९)

१७. निज शुद्धात्मा के संवेदन में अनुचरण करने रूप अथवा आगमभाषा में वीतराग परमसामायिक नामवाला अर्थात् समताभावरूप स्वचारित्र होता है। (पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति गाथा-१५८, पृष्ठ-२२८)

१८. चारित्र, मोक्ष का साक्षात् कारण है, यह बात जानने के लिए सूत्र में इसका ग्रहण अन्त में किया है।

(सर्वार्थसिद्धि, अध्याय-९, सूत्र-१८, पृष्ठ-३४३)

१९. अज्ञानपूर्वक आचरण के निराकरण के अर्थ सम्यक् विशेषण दिया गया है। (सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र-१, पृष्ठ-४)

२०. सूत्र में चारित्र के पहले ज्ञान का प्रयोग किया है; क्योंकि चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है। (सर्वार्थसिद्धि अध्याय-१, सूत्र-१, पृष्ठ-५)

२१. 'सम्यक्त्वचारित्रे' इस सूत्र में सम्यक्त्व पद को आदि में रखा है; क्योंकि चारित्र सम्यक्त्वपूर्वक होता है।

(सर्वार्थसिद्धि अध्याय-२, सूत्र-३, पृष्ठ-११०)

२२. चारित्र की आराधना करने से दर्शन, ज्ञान व तप, यह तीनों आराधनाएँ भी हो जाती हैं। परन्तु दर्शनादि की आराधना से चारित्र की आराधना हो या न भी हो।

(भगवती आराधाना, गाथा-८, पृष्ठ-५)

२३. जो मुनि चारित्र से पूर्ण है, वह थोड़ा भी पढ़ा हुआ हो तो भी दशपूर्व के पाठी को जीत लेता है। (अर्थात् वह तो मुक्ति प्राप्त कर लेता है, और संयमहीन दशपूर्व का पाठी संसार में ही भटकता है) जो चारित्ररहित है, वह बहुत से शास्त्रों का जाननेवाला हो जाये तो भी उसके बहुत शास्त्र पढ़े होने से क्या लाभ?
नेत्र और उससे होनेवाला जो ज्ञान उसका फल सर्पदंश, कंटकव्यथा इत्यादि दुःखों का परिहार करना है; परन्तु जो बिल आदिक देखकर भी उसमें गिरता है, उसका नेत्रज्ञान वृथा है।
(मूलाचार, गाथा-८९७)

२४. आत्मा का स्वरूप उपाध्याय आदि के मुख से खूब इच्छानुसार सुनने पर भी तथा अपने मुख से दूसरों को बतलाते हुए भी **जबतक आत्मस्वरूप की शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न भावना नहीं की जाती, तबतक यह जीव मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता।** **(समाधिशतक, श्लोक-८१)**

२५. हिंसादि पाँच अव्रतों से पाँच पाप का और अहिंसादि पाँच व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है। पुण्य और पाप दोनों कर्मों का विनाश मोक्ष है। इसलिए मोक्ष के इच्छुक भव्य पुरुष को चाहिए कि अव्रतों की तरह व्रतों को भी छोड़ दे। **(समाधिशतक, श्लोक-८३)**

२६. निश्चय चारित्र से मोक्ष होता है और व्यवहार चारित्र से बन्ध। इसलिए मोक्ष के इच्छुक को मन, वचन, काय से व्यवहार छोड़ना चाहिए। **(बृहद् नयचक्र, गाथा-३८१, पृष्ठ-१९३)**

२७. शास्त्रों को खूब जानता हो और तपस्या करता हो, लेकिन परमात्मा को जो नहीं जानता या उसका अनुभव नहीं करता, तबतक वह संसार से नहीं छूटता। **(परमात्मप्रकाश अधिकार-२, श्लोक-८१)**

२८. उपेक्षा संयम या वीतराग चारित्र और अपहृत संयम या सराग चारित्र ये दोनों भी एक उसी शुद्धोपयोग में प्राप्त होते हैं। अथवा सामायिकादि पाँच प्रकार के संयम भी उसी में प्राप्त होते हैं। क्योंकि उपरोक्त संयमादि समस्त गुण एक शुद्धोपयोग में प्राप्त होते हैं, इसलिए वही प्रधानरूप से उपादेय हैं।

(परमात्मप्रकाश अधिकार-२, श्लोक-६७)

२९. हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह के त्याग को व्रत कहते हैं, ये व्रत पुण्यास्रव के कारणरूप भाव समझने चाहिए।

(तत्वार्थसार अधिकार-४, श्लोक-१०१)

३०. समस्त पापयुक्त मन, वचन, काय के योगों के त्याग से सम्पूर्ण कषायों से रहित अतएव, निर्मल, परपदार्थों से विरक्तारूप चारित्र होता है; इसलिए वह आत्मा का स्वरूप है।

(पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक-३९, पेज-४९)

३१. वह चारित्र (पूर्व श्लोक में कथित शुद्धोपयोग रूप चारित्र) निर्जरा का कारण है, यह बात न्याय से भी अबाधित है। वह चारित्र अन्वर्थ क्रिया में समर्थ होता हुआ दीपक की तरह अन्वर्थ नामधारी है। **(पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध, श्लोक-७५९, पृष्ठ-४६६)**

३२. नियम से शुद्ध क्रिया को छोड़कर शेष क्रियाएँ बन्ध की ही जनक होती हैं, इस हेतु से विचार करने पर इस **शुभोपयोग को विरुद्ध कार्यकारित्व असिद्ध नहीं है।**

(पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध श्लोक-७६२, पृष्ठ-४६७)

३३. **यद्यपि लोकरूढ़ि से शुभोपयोग को चारित्र नाम से कहा जाता है; परन्तु निश्चय से वह चारित्र स्वार्थ क्रिया को नहीं करने से अर्थात् आत्मलीनता अर्थ का धारी न होने से अन्वर्थनामधारी नहीं है।** **(पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध श्लोक-७६०, पृष्ठ-४६६)**

३४. यह (शुभोपयोग बन्ध का कारण होने से) उत्तम नहीं है; क्योंकि जो **उपकार व अपकार करनेवाला नहीं है, ऐसा साम्य या शुद्धोपयोग ही उत्तम है।** **(पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध श्लोक-७६१, पृष्ठ-४६६)**

३५. **बुद्धि की मन्दता से यह भी आशंका नहीं करनी चाहिए कि शुभोपयोग एक देश से निर्जरा का कारण हो सकता है;** कारण कि निश्चयनय से शुभोपयोग भी संसार का कारण होने से निर्जरादिक का हेतु नहीं हो सकता है।

(पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध श्लोक-७६३, पृष्ठ-४६७)

३६. जो रागादि से भेद विज्ञान हो जानेपर रागादि का त्याग करता है, उसे भेद विज्ञान का फल है। **(द्रव्यसंग्रह, गाथा-३६, पृष्ठ-१७४)**

सम्यक्चारित्र, भेद-प्रभेद

- सामान्यपने एक प्रकार चारित्र है अर्थात् चारित्रमोह के उपशम क्षय व क्षयोपशम से होनेवाली आत्म-विशुद्धि की दृष्टि से चारित्र एक है।
- बाह्य व अभ्यन्तर निवृत्ति अथवा व्यवहार व निश्चय की अपेक्षा चारित्र दो प्रकार का है।
- प्राणीसंयम व इन्द्रियसंयम की अपेक्षा चारित्र दो प्रकार का है।
- औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से चारित्र तीन प्रकार का है।
- उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य विशुद्धि के भेद से चारित्र तीन प्रकार का है।
- चार प्रकार के यति की दृष्टि से या चातुर्याम की अपेक्षा चारित्र चार प्रकार का है।
- स्वरूपाचरण चारित्र, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यात चारित्र।

ये भी चारित्र के चार भेद हैं।

- छद्मस्थों का सराग और वीतराग तथा सर्वज्ञों का सयोग और अयोग इस तरह चारित्र चार प्रकार का है।
- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-सांपराय और यथाख्यात के भेद से चारित्र पाँच प्रकार का है।
- वह चारित्र व्यवहारनय से पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार १३ भेदरूप भी हैं।
- इसी तरह विविध निवृत्तिरूप परिणामों की दृष्टि से संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्परूप चारित्र होता है।

प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न – संयम तो जीव का स्वभाव ही है, इसीलिए वह अन्य के द्वारा अर्थात् कर्मों के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका विनाश होनेपर जीव द्रव्य के भी विनाश का प्रसंग आता है?

उत्तर – नहीं आयेगा, क्योंकि, जिसप्रकार उपयोग जीव का लक्षण माना गया है, उसप्रकार संयम जीव का लक्षण नहीं होता।

(धवला पुस्तक-७, खण्ड-२, पेज-९६)

२. प्रश्न – ज्ञान इष्ट-अनिष्ट मार्ग को दिखाता है, इसलिए उसकी उपकारपना युक्त है (परन्तु क्रिया आदि को उपकारक कहना उपयुक्त नहीं)।

उत्तर – यह कहना योग्य नहीं हैं, क्योंकि ज्ञान मात्र से इष्ट सिद्धि नहीं होती, कारण कि **प्रवृत्ति रहित ज्ञान नहीं हुए के समान है।** जैसे नेत्र के होते हुए भी यदि कोई कुएँ में गिरता है, तो उसके नेत्र व्यर्थ हैं।

(भगवती आराधना, गाथा-५६, पृष्ठ-२५)

३. प्रश्न – ज्ञान का कार्य क्या है?

उत्तर – तत्त्वार्थ में रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्र का धारण करना कार्य है। **(धवला पुस्तक-१, खण्ड-१, भाग-१, पृष्ठ-३५५)**

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1.	श्रीमती पुष्पाबेन अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	3301.00
2.	डॉ. बी.ए. शिरढोणे, मिरज	1100.00
3.	चि. स्वस्ति एवं चि. संयम उदगांवे, साँगली	1100.00
4.	श्री ईशानराज ऋषभकुमार शास्त्री, छिन्दवाड़ा	1000.00
5.	श्री प्रमोदकुमारजी पी.के., छिन्दवाड़ा	1000.00
6.	श्री रतनचन्दजी प्रमोदकुमारजी पाटनी, छिन्दवाड़ा	1000.00
7.	श्रीमती कुसुमलता शान्तिकुमारजी पाटनी, छिन्दवाड़ा	1000.00
8.	श्रीमती कमलाबाई पीताम्बरलालजी पाटनी, छिन्दवाड़ा	1000.00
9.	श्री सुरेन्द्रकुमार पंकजजी जैन, छिन्दवाड़ा	1000.00
10.	श्री सुरेन्द्रकुमार सौरभकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	1000.00
11.	श्रीमती आशा विजयकुमारजी कोशल, छिन्दवाड़ा	1000.00
12.	श्रीमती शोभा वैद और पवनजी जैन, छिन्दवाड़ा	1000.00
13.	सौ. सुनंदा धनचन्द्रजी निरवाणे, जयसिंगपुर	1000.00
14.	श्रीमती कुसुम शान्तिकुमारजी पाटनी, छिन्दवाड़ा	1000.00
15.	श्रीमती सविता जैन रविशंकरजी जैन, छिन्दवाड़ा	501.00
16.	श्री सुमितराज सन्मतिकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	501.00
17.	श्री पुण्यकुमार पूनमचन्दजी जैन, छिन्दवाड़ा	501.00
18.	श्री चोथमल चैनकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	501.00
19.	श्रीमती शरद जैन ध.प. विजयकुमारजी पंचोली, भीलवाड़ा	500.00
20.	श्री जवेरचन्द दलीचन्दजी जैन, मुम्बई	500.00
21.	चि. प्रांजल मनोज अलगूर हस्ते डॉ. सौ. मोहनी अलगूर, हुबली	500.00
22.	श्री अरविन्द रोकड़े, डोंबीवली, मुम्बई	301.00
23.	श्री महावीरकुमारजी चौधरी, भीलवाड़ा	300.00
24.	श्रीमती गुणमाला ध.प. पी.के जैन, भीलवाड़ा	250.00
25.	श्रीमती जयन्तीबाई महेन्द्रकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	201.00
26.	श्री नरेशजी झाँझरी, छिन्दवाड़ा	200.00
27.	श्रीमती बसन्तीदेवी सोगाणी, अठाना	200.00
28.	श्री आकाश नंदकुमारजी आहाळे, डोंबीवली, मुम्बई	150.00
29.	गुप्तदान	100.00
	कुल राशि	**21,707.00**

जिनेन्द्रकथित शास्त्राभ्यास से लाभ

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार : अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना)

१. माया, मिथ्यात्व, निदान – इन तीन शल्यों का ज्ञानाभ्यास से नाश होता है।
२. ज्ञान के अभ्यास से ही मन स्थिर होता है।
३. अनेक प्रकार के दुःखदायक विकल्प नष्ट हो जाते हैं।
४. शास्त्राभ्यास से ही धर्मध्यान व शुक्लध्यान में अचल होकर बैठा जाता है।
५. ज्ञानाभ्यास से ही जीव व्रत-संयम से चलायमान नहीं होते।
६. जिनेन्द्र का शासन प्रवर्तता है। अशुभ कर्मों का नाश होता है।
७. जिनधर्म की प्रभावना होती है।
८. कषायों का अभाव हो जाता है।
९. ज्ञान के अभ्यास से ही लोगों के हृदय में पूर्व का संचित कर रखा हुआ पापरूप ऋण नष्ट हो जाता है।
१०. अज्ञानी जिस कर्म को घोर तप करके कोटि पूर्व वर्षों में खिपाता है, उस कर्म को ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में ही खिपा देता है।
११. ज्ञान के प्रभाव से ही जीव समस्त विषयों की वाञ्छा से रहित होकर संतोष धारण करते हैं।
१२. शास्त्राभ्यास से ही उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होते हैं।
१३. भक्ष्य-अभक्ष्य का, योग्य-अयोग्य का, त्यागने-ग्रहण करने योग्य का विचार होता है।
१४. ज्ञान बिना परमार्थ और व्यवहार दोनों नष्ट होते हैं।
१५. ज्ञान के समान कोई धन नहीं है और ज्ञानदान समान कोई अन्य दान नहीं है।
१६. दुःखित जीव को सदा ज्ञान ही शरण अर्थात् आधार है।
१७. ज्ञान ही स्वदेश में एवं परदेश में सदा आदर कराने वाला परम धन है।
१८. ज्ञान धन को कोई चोर चुरा नहीं सकता, लूटने वाला लूट नहीं सकता, खोंसनेवाला खोंस नहीं सकता।
१९. ज्ञान किसी को देने से घटता नहीं है, जो ज्ञान-दान देता है; उसका ज्ञान बढ़ता जाता है।
२०. ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।
२१. ज्ञान से ही मोक्ष प्रगट होता है। ❋

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मोक्षशास्त्र/चौबीस तीर्थंकर महापुराण
बृहद जिनवाणी संग्रह/समयसार (ज्ञायकभावप्रबोधिनि)
रत्नकरण्डश्रावकाचार/समयसार
मोक्षमार्ग प्रवचन भाग-1,2,3,4
प्रवचनसार/क्षत्रचूड़ामणि
समयसार नाटक/मोक्षमार्ग प्रकाशक
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग 2 (पूर्वार्द्ध + उत्तरार्द्ध) एवं भाग 3
बृहद द्रव्यसंग्रह/जिनेन्द्र अर्चना
दिव्यध्वनिसार प्रवचन/नियमसार
योगसार प्रवचन/तीनलोकमंडल विधान
समयसार कलश/चिन्तन की गहराईयाँ
प्रवचनरत्नाकर भाग 1 से 11 तक
नयप्रज्ञापन/समाधितंत्र प्रवचन
पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व
समयसार अनुशीलन सम्पूर्ण भाग 1,2,3,4,5
आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व
पंचास्तिकाय संग्रह/सिद्धचक्र विधान
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव
भावदीपिका/कार्तिकेयानुप्रेक्षा
परमभावप्रकाशक नयचक्र
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/ज्ञानगोष्ठी
सूक्तिसुधा/आत्मा ही है शरण/आत्मानुशासन
संस्कार/इन भावों का फल क्या होगा
इन्द्रध्वज विधान/धवलासार
रामकहानी/गुणस्थान विवेचन
सुखी जीवन/विचित्र महोत्सव
सर्वोदय तीर्थ
सत्य की खोज/बिखरे मोती
निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व
तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ
श्रावकधर्मप्रकाश/कल्पद्रुम विधान
वी.वि. पाठमाला भाग 1,2,3
वी.वि. प्रवचन भाग 1 से 6 तक
तत्त्वज्ञान तरंगणी/रत्नत्रय विधान
भक्तामर प्रवचन/बारह भावना : एक अनुशीलन
धर्म के दशलक्षण/विदाई की बेला
नवलब्धि विधान/बीस तीर्थंकर विधान
पंचमेरु नंदीश्वर विधान/रत्नत्रय विधान
सुखी होने का उपाय भाग 1 से 8 तक
जैनतत्त्व परिचय/करणानुयोग परिचय
आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार
कालजयी बनारसीदास/रक्षाबन्धन और दीपावली
बालबोध भाग 1,2,3/जिन खोजा तिन पाईयां
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग 1,2/आध्यात्मिक भजन संग्रह
छहढाला (सचित्र)/भ. ऋषभदेव/शीलवान सुदर्शन
प्रशिक्षण निर्देशिका/जैन विधि-विधान
क्रमबद्धपर्याय/दृष्टि का विषय/ये तो सोचा ही नहीं
बारसाणुवेक्खा/चौबीस तीर्थंकर पूजा
गागर में सागर/आप कुछ भी कहो
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव
जैनधर्म की कहानियाँ भाग 1 से 15 तक
अहिंसा के पथ पर/जिनवरस्य नयचक्रम्
णमोकार महामंत्र/वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-5
चौसठ ऋद्धि विधान/कारणशुद्धपर्याय
दशलक्षण विधान/आचार्य कुन्दकुन्ददेव
पंचपरमेष्ठी विधान/विचार के पत्र विकार के नाम
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम
परीक्षामुख/मुक्ति का मार्ग/पश्चात्ताप
युगपुरुष कानजीस्वामी/सामान्य श्रावकाचार
अलिंगग्रहण प्रवचन/जिनधर्म प्रवेशिका
मैं कौन हूँ/सत्तास्वरूप/वीर हिमाचलतैं निकसी
समयसार : मनीषियों की दृष्टि में
व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ/पदार्थ-विज्ञान
मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ/महावीर वंदना (कैलेण्डर)
वस्तुस्वातंत्र्य/भरत-बाहुबली नाटक
शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति
सुख कहाँ है/सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता
मैं स्वयं भगवान हूँ/णमोकार एक अनुशीलन
रीति-नीति/गोली का जवाब गाली से भी नहीं
समयसार कलश पद्धानुवाद/अष्टपाहुड़
योगसार पद्धानुवाद/कुन्दकुन्दशतक पद्धानुवाद
अर्चना/शुद्धात्मशतक पद्धानुवाद
षट्कारक अनुशीलन/अपनत्व का विषय

ब्र. यशपालजी जैन का साहित्यिक कार्य

स्वतंत्र कृतियाँ

1- गुणस्थान विवेचन
2- जिनधर्म प्रवेशिका
3- मोक्षमार्ग की पूर्णता
4- जिनेन्द्र पूजेचे स्वरुप (मराठी)

अनुवाद एवं टीकाएँ

5- क्षत्रचूडामणि
6- योगासार प्राभृत

अनुवाद (मराठी)

7- योगसार
8- परमात्मप्रकाश

संपादित साहित्य

9- सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, भाग -1
10- सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, भाग-3
11- भावदीपिका
12- पंचपरमेष्ठी
13- अध्यात्म बारहखडी
14- योगसारप्राभृत-शतक
15- तत्त्ववेत्ता : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
16- चिन्तन की गहराइयाँ
17- बिखरे मोती
18- दृष्टि का विषय
19- णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन
20- रीति-नीति
21- मैं स्वयं भगवान हूँ
22- जिनेन्द्र अष्टक
23- गोली का जवाब गाली से भी नहीं
24- बिन्दु में सिन्धु

इसके अलावा ब्र. यशपालजी ने आचार्य कुन्दकुन्द विरचित पंचपरमागम एवं मोक्षमार्गप्रकाशक के कन्नड भाषा में अनुवाद में बहुमूल्य सहयोग दिया है।